

समस्य



जनवरी-मार्च, 2023 ♦ नई दिल्ली

साहि शहादा
साहि विरास

महारा सिंह
सुखदेव

राजबुल

शहादा दिवस
२३ मार्च, १९३१

सजाम...

नाहि तो जन्म नसाई

हमारा पड़ोसी मुल्क जिस दो राष्ट्रीय सिद्धांत के आधार पर बना था उसकी खामियां कुछ बरसों में ही सामने आने लगीं थीं और 25 वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे कि बांग्लादेश बनते ही इस विचारधारा की धजियां उड़ गईं लेकिन इस घटना के कारणों का विश्लेषण करके इससे सबक सीखने के बजाय इस देश में इस्लामीकरण ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर एक नया इतिहास गढ़ने और एक बनावटी कल्चर और पहचान ढूंढने के प्रयास और भी तेज हो गए जिनके भयानक परिणाम पूरा राष्ट्र भुगत रहा है। बहुसंख्यकों के वर्चस्व, अल्पसंख्यकों के साथ दुर्व्यवहार, मासूम बच्चियों के अगवा और उनके धर्म परिवर्तन ईशनिंदा के नाम पर होने वाली हिंसा जैसी घटनाएं आम हो चुकी हैं। अलबत्ता इस निराशाजनक परिस्थितियों में आशा की एक किरण अवश्य नज़र आ रही है और सत्ता पक्ष के द्वारा निर्मित आख्यान पर प्रश्न उठने लगे हैं। जिसके बारे में हमें सोशल मीडिया के द्वारा थोड़ी बहुत जानकारी मिल जाती है और वहां के विभिन्न फोरमों और मंचों पर होने वाली बहसों, ब्लॉग्स, इतिहासकारों, समाज और राजनीति शास्त्रियों आदि के साथ होने वाले साक्षात्कारों से पता चलता है कि वैज्ञानिक सोच का एक माहौल बन रहा है जिसमें देश के हजारों साल पुराने इतिहास और संस्कृति की बात होती है और अपने असल नायकों जैसे भगत सिंह आदि के बलिदान का उल्लेख भी सुनने में आता है। इन सबका सबसे महत्वपूर्ण और सकारात्मक पहलू यह है कि इसमें युवकों की जोशीली भागीदारी नजर आती है जो एक अच्छा शगुन है। इस तरह के प्रयास चाहे कितने ही छोटे स्तर पर हो रहे हों मगर चिराग से चिराग जलता है और यह इस क्षेत्र में स्थाई शांति की दिशा में एक बड़ा कदम न सही मगर यह कहा जा सकता है कि उमस और घुटन के माहौल में एक छोटी-सी खिड़की से ताजा हवा का झोंका आता हुआ महसूस हो रहा है।

यह बात इसलिए कही जा रही है कि इसके विपरीत हमारे देश ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही अपने भविष्य की रूपरेखा बना ली थी और अपने उद्देश्य निर्धारित कर लिए थे। संविधान सभा की लंबी बहसों से मालूम होता है कि संविधान निर्माताओं के ज़हनों में भविष्य के भारत के बारे में किसी तरह का उलझाव नहीं था। देश के सामाजिक इतिहास, उसकी बहुलता और उसकी साझी विरासत के निर्माण में इतिहास के रोल से वह भलीभांति परिचित थे। उन्होंने देश के आम नागरिक को सबसे ऊपर रखा और उसके सर्वांगीण विकास के लिए एक ऐसा वातावरण बनाने को प्राथमिकता दी जिसमें उसे पूर्ण स्वतंत्रता और समान अवसर प्राप्त हों और उसके मूल अधिकार सुरक्षित रहें। यह संवैधानिक मूल्य किसी भी सभ्य समाज की बुनियाद हैं। दुर्भाग्य से कुछ वर्षों से हम ऐसी शक्तियों का उदय देख रहे हैं जिनका संविधान की मूल आत्मा के साथ सीधा टकराव है और वह भारत के किसी ऐसे आइडिया या स्वरूप में विश्वास नहीं रखती जो हमारी साझी विरासत का अंग और संविधान में निहित है। वह स्वतंत्र और वैज्ञानिक सोच, वाद-विवाद, बहस और विचार-विमर्श की विरोधी और ऐसी विचारधारा की अनुयायी है जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं। जरा सोचिये कि हमने कैसे घोर संकट के बीच किस विश्वास और धैर्य के साथ अपनी यात्रा शुरू की थी और अब किस दिशा में चल पड़े हैं।

2 • समरथ

जनवरी-मार्च, 2023

साहित्य में स्त्री दृष्टि

अदिति भारद्वाज

//

साहित्य में स्त्री दृष्टि निजी मुक्ति का नहीं बल्कि सामूहिक मुक्ति का आख्यान रचती है, इसीलिए ज्यादा समावेशी है और अपने वृत्त में पूरी मानवता को समेट लेती है।

‘रजनीगंधा की महक धीरे-धीरे मेरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के अधरों का स्पर्श महसूस करती हूँ, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था।’

फिल्म के पर्दे पर जब अभिनेत्री विद्या सिन्हा इन भावों का अभिनय करती हैं तो यह 1974 के भारतीय सिनेमा के संदर्भ में वाकई नई बात थी, जहां स्त्री की एक मात्र पहचान बस उसका स्त्री होना है। यह एक नई स्त्री-छवि थी। यहां उससे नैतिक बने रहने की कोई अपेक्षा नहीं है। वह एक समय में दो पुरुषों से प्रेम कर सकती है और अंत-अंत तक अपने आकर्षण और प्रेम को लेकर दुविधाग्रस्त रह सकती है।

यह विश्वास कहानी के तौर पर 1966 में ही हिंदी की जनप्रसिद्ध लेखक मन्नू भंडारी ने साहित्य में दे दिया था, जब उनकी कहानी यही सच है आई थी, जिस पर बासु चटर्जी ने अपनी फिल्म रजनीगंधा बनाई। यह स्त्री को देखने की दृष्टि में नयेपन का असर था जिसे सामाजिक स्वीकृति,

साहित्य ने दिलवाई थी।

बहरहाल, इस बात पर अब सालों से बहस होती आ रही है कि किसी भी वस्तु को, स्थिति को, प्रक्रियाओं को देखने के लिए हम किस दृष्टि का उपयोग करते हैं? और इसलिए ‘स्त्री दृष्टि’ या ‘स्त्री की निगाह’ से देखे जाने की अवधारणा नारीवाद के रूप में विकसित हुई, जो उन्नीसवीं सदी के वैचारिक आंदोलनों में सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन बना। नारीवाद मानता है कि महिलाएं, पुरुषों से अलग तरीके से दुनिया का अनुभव करती हैं और इसलिए एक अलग दृष्टिकोण से लिखती हैं।

पेट्रीशिया मेयर स्पेक्स ने भी द फीमेल इमेजिनेशन (1976) में इस संदर्भ में कहा था कि ‘ऐसा कुछ तो है, जिसे हम एक महिला का दृष्टिकोण कह सकते हैं, एक ऐसा दृष्टिकोण जो सदियों से एक अलग, एक ठोस रूप में पहचाना जा सकता है।’ और यह सच भी है, क्योंकि स्त्री और पुरुष, प्राकृतिक और सामाजिक कारणों से ही किसी एक स्थिति पर या चीजों पर एक तरीके से विचार नहीं कर सकते



विशेषकर तब जब कि स्त्रियों के साथ सदियों से, लगभग सभ्यता के विकास से ही एक ऐसा इतिहास जुड़ा हुआ हो, जहां वह विशेषाधिकार की स्थिति में नहीं, बल्कि दोगुने दर्जे की पहचान से संबद्ध हों।

यह हमारे, विशेषकर, विकासशील और अविकसित देशों के समाज में ही होता आया है (हालांकि पश्चिम के आधुनिक देश भी कम से कम इस बात में समान ही थे) कि जहां समाज ने 'पुरुषों' को तो वर्चस्व के साथ जोड़कर परिभाषित किया, वहीं स्त्रियों को सिर्फ और सिर्फ 'नैतिकता' के पर्याय के रूप में।

बहरहाल, स्त्री और पुरुष के बीच किस-किस स्तर पर और किस-किस तरीके से समाजों ने भेदभाव को संस्थागत रूप में ढालने का काम किया है, इतिहास इसका गवाह है। इसलिए, यहां न तो उस भेदभाव की तहक्रीकात करने की जरूरत है न ही उस पर नए सिरे से प्रश्न करने की आवश्यकता।

बहरहाल, साहित्य में नारीवादी दृष्टि अचानक ही भारतीय परिदृश्य में सब ओर दिखलाई देने लगी हो, ऐसा नहीं था, बल्कि, यह धीरे-धीरे और लगातार विकसित हुई, जिसकी थोड़ी बहुत झलक पहले के लेखकों जैसे बंकिमचंद्र चटर्जी, रवींद्रनाथ टैगोर, हिंदी में प्रेमचंद और जैनेंद्र में दिखती थी।

लेखिकाओं की जहां तक बात है, आधुनिक हिंदी साहित्य में आरंभिक लेखन जिन स्त्रियों ने किया वह अपनी सामाजिक परिस्थितियों में ढका-छुपा लेखन करने के लिए अभिशप्त थीं। बंग महिला के नाम से जिस स्त्री ने 'दुलाईवाली' कहानी लिखी थी, उसके विषय में कुछ भी दर्ज नहीं किया गया। ऐसे में साहित्य के आरंभिक दौर में, स्त्री तो चित्रित होती रही, पर वह प्रायः पुरुषों द्वारा चित्रित की गई थी।

यह एक ऐसी स्त्री थी, जो अपनी दया, भीरुता, संयम और सहनशीलता से घर का सुख बरकरार रखती हुई पारिवारिक रिश्तों को ममतामयी सूत्रों से बांधे रखती थी। और यह अंततः एक पितृसत्तात्मक दृष्टि ही थी। लेखक, पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था के हाथों होते आए महिलाओं के शोषण को दिखलाते तो थे, पर अगर प्रेमचंद उसे मालती (गोदान में), आनंदी (बड़े घर की बेटा) में आदर्शवादी रूप दे देते थे तो शरतचंद उसमें रोमांटिक भावबोध भरकर उसकी धार को कुंद कर देते थे।

यह प्रवृत्ति हमें धर्मवीर भारती तक बिना किसी बाधा के दिखलाई पड़ती है, जहां वह गुनाहों का देवता में सुधा

को स्त्री रहने ही नहीं देते, त्याग और सहनशीलता की देवी बनाकर छोड़ देते हैं जिसकी चंद्र जैसे अति-आदर्शवादी युवक पूजा करते हैं और उनका प्रेम भी व्यक्ति सुधा के लिए नहीं रहता बल्कि अपने आप को गुनाहों से बचाने के लिए जीवन में एक केंद्र की आवश्यकता के तौर पर रहता है।

हिंदी में जैनेंद्र स्त्रियों के अपने चित्रण में पहली बार परंपरा से हटने का साहस दिखलाते हैं। त्यागपत्र, सुनीता और कल्याणी जैसे उपन्यासों में उन्होंने पहली बार उन महिलाओं को उभारा था जो नारी के आदर्श रूप से कहीं दूर थीं। ये सभी किसी-न-किसी रूप में से त्रुटियों से, दोषों से भरी स्त्रियां थी, जो स्त्रियों का वास्तव में एक प्राकृतिक चित्रण था।

यशपाल ने भी दिव्या और अपने अन्य उपन्यासों में स्त्री को एक इंसान के रूप में दिखलाने का प्रयास किया। अज्ञेय ने नदी के द्वीप में रेखा के रूप में एक सशक्त किरदार लिखा पर वह स्वयं लेखक के स्वतंत्र आदर्शों का मानवीय रूप भर था या नहीं, इस पर विवाद होता रहा। पर इस पूरे दौर में स्त्रियों पर डाली गई इन दृष्टियों में भी कहीं-न-कहीं पुरुष लेखक द्वारा जाने-अनजाने ही किया गया 'पेट्रनाइजेशन' था, जो स्त्रियों को उसकी त्रुटियों के बावजूद भी उसे स्वीकारने का 'महान कार्य' करने के लिए तैयार था।

ऐसा नहीं था कि पुरुष लेखकों ने स्त्री जीवन की कठिन वास्तविकताओं को उद्घाटित करने की कोशिश नहीं की थी, पर अंततः वह सच भी एक पुरुष की दृष्टि से जांचा हुआ सच था, इसलिए प्रामाणिकता वहां भी खतरे में थी।

1950-55 के बाद नई कहानी में जब मध्य वर्ग कथा के केंद्र में आता है तो लेखकों ने, शहरी जीवन में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती स्त्रियों से परिवार की पारंपरिक छवि पर हमला होते हुए दिखलाया। आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी मानते हैं कि कैसे पहले की कहानियों में स्त्रियां (पत्नी या प्रेमिका) ज्यादा व्याकुल होती थीं, प्रेमी या पति उपेक्षा दिखाता था, पर नई कहानी आते-आते अब पुरुष उद्विग्न थे।

मोहन राकेश की कहानी एक और ज़िंदगी में प्रकाश बेचैन है, क्योंकि पत्नी उसकी उपेक्षा करती है, वह नौकरीपेशा है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र है। यही भाव हमें थोड़े अलग-अलग रूपों में कमलेश्वर की राजा निरबंसिया और रवींद्र कालिया की नौ साल छोटी पत्नी में दिखाई पड़ता है। पर इस दौर में जहां लेखकों ने पुरुष पात्रों को पाठकीय

सहानुभूति के लिए गढ़ा तो वहीं स्त्री के चित्रण में वास्तविकता का हवाला देते हुए उसकी कुंठा और हताशा को ही एक तरह से ज्यादा उभारा।

राजेंद्र यादव की जहां लक्ष्मी कैद है कहानी की लक्ष्मी हो या मोहन राकेश के प्रसिद्ध नाटक आधे अधूरे की सावित्री, सब अपने जीवन में पूर्णता की तलाश में, मुक्ति की तलाश में अपनी कुंठाओं से जूझती नजर आती हैं। पर बाद के दशकों में हम देखते हैं कि कैसे कुछ बहुत प्रभावशाली पात्र हिंदी साहित्य को पुरुष लेखकों से भी मिले।

चाहे वह सुरेंद्र वर्मा की मुझे चांद चाहिए की वर्षा वशिष्ठ हो, निर्मल वर्मा के परिंदे की लतिका हो, विष्णु प्रभाकर के अर्धनारीश्वर की सुमिता हो, भीष्म साहनी के नाटक माधवी की मुख्य पात्र माधवी हो, इन सब ने स्त्री की छवि को साहित्य में सर्वांगीण बनाने की दृष्टि से उल्लेखनीय काम किया।

इस परिप्रेक्ष्य में साहित्य में स्त्री दृष्टि को वस्तुतः जब लेखिकाओं ने लाया तो, वह अपने आप में अभूतपूर्व था। शुरुआत कविता से हुई, वह भी प्रमुख रूप से छायावाद के समय, महादेवी वर्मा का लेखन असल माने में साहित्य में स्त्री दृष्टि का एक सशक्त उदाहरण बना।

हालांकि महादेवी की कविताओं को प्रायः आलोचकों ने रहस्यवादी आत्मगीत मान कर सीमित करने का यत्न तो किया, पर अपने निबंधों विशेषकर शृंखला की कड़ियां में जिस स्त्री दृष्टि से अनायास ही महादेवी समाज को देख रही थीं, वह हिंदी साहित्य के लिए निःसंदेह नई बात थी, क्योंकि 1930 के दशक में ही रशीद जहां ने 'अंगारे' के माध्यम से उर्दू साहित्य में विशेषकर मुस्लिम महिलाओं की समस्याओं को गैर परंपरागत साहसिकता के साथ दिखलाना शुरू कर दिया था, जिसकी अगली कड़ी हमें इस्मत चुगताई के बेहद बेबाक लेखन में दिखलाई पड़ती है।

इस प्रकार जिसे नारीवादी दृष्टि का धुंधला पूर्वाभास कहा जा सकता है, वह 1920 और 1930 के दशक की शुरुआत से भारतीय कथा साहित्य में दिखाई देने लगा था पर, उस दृष्टि का असल विकास केवल स्वतंत्रता के बाद की अवधि में, विशेष रूप से 1960 के दशक के बाद से देखा गया।

इसलिए स्त्रियों के प्रति संवेदनशील हो कर लिखे गए अब तक के साहित्य के बर-अक्स अब साहित्य में लेखिकाओं ने अपनी स्वयंवेदना को बयान करने का बीड़ा उठाया जिससे यथार्थ के कई अनदेखे पहलू साहित्य के

आकाश में दर्ज हो सके। विशेषकर, हिंदी साहित्य में इन लेखिकाओं ने अपनी दृष्टि के नएपन से न केवल साहित्य को संप्रेषण की एक विधा के रूप में सशक्त किया बल्कि आधी आबादी के सच को सामने लाया।

1960 के दशकों में हिंदी जनक्षेत्र में जहां एक तरफ शिवानी की रचनाएं पहली बार हिंदी के एक बड़े पाठक वर्ग तक पहुंची, जो अपने सरल, रोचक लेखन से कुमाऊं क्षेत्र की लोक-संस्कृति की झलक दिखलाने और यादगार स्त्री पात्रों के लिए जानी गईं। तो वहीं उषा प्रियंवदा जैसी लेखिकाएं भी अपना शुरुआती लेखन 'सरिता' जैसी स्त्री पत्रिकाओं से कर रहीं थीं और मध्य वर्गीय घरेलू स्त्रियों में व्यापक रूप से पढ़ी जा रही थीं।

वहीं, फलक के दूसरे छोर पर कृष्णा सोबती थीं, जो अपनी जानदार भाषा से हिंदी साहित्य के पुरुष वर्चस्व को बिना किसी वाद-विवाद के चक्कर में पड़े चुपचाप चुनौती दे रही थीं। सोबती ने मित्रो मरजानी में पहली बार स्त्री की देह पर उसके अधिकार को विमर्श के केंद्र में लाने का ऐतिहासिक कार्य किया। देह की प्यास और तपन का ऐसा बेधड़क स्वीकार अचंभित करने वाला था और सत्तर के दशक में ऐसे बेलौस अकुंठ चरित्र का सृजन निश्चय ही चौंकाने वाली घटना थी।

आलोचक निर्मला जैन ने मित्रो के बारे में ही अपनी ऐतिहासिक टिप्पणी दी थी कि 'मित्रो व्यक्ति नहीं एहसास है। सामाजिक मर्यादा के साथ देहधर्मिता की टकराहट है।'

मन्नू भंडारी ने आपका बंटी में तलाकशुदा शकुन को पारंपरिक मां की पुरानी छवि से बाहर निकाल अपनी कामनाओं के स्वीकार और जीवन पर अपने नियंत्रण के अधिकार को पुनर्परिभाषित किया। उषा प्रियंवदा ने पचपन खंभे लाल दीवारों में सुषमा के माध्यम से परिवार, प्रेम और विवाह जैसी संस्थाओं पर गंभीर विमर्श खड़ा किया। उसके हिस्से की धूप में मृदुला गर्ग प्रेम के बहाने अंततः स्त्री की स्वतंत्रता के सवाल के इर्द-गिर्द घूमती हुई पूछती हैं कि क्या वह प्रेम वाकई अच्छा है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता और विकास में बाधा डालता है।

पिछले दो-तीन दशकों में भारतीय लेखिकाओं ने स्त्री को उसकी समग्रता में बिना किसी प्रभा-मंडल के साथ, एक यथार्थवादी दृष्टि से देखा है। स्त्री दृष्टि से लिखे गए साहित्य में महाश्वेता देवी (हजार चौरासी की मां), वाजिदा तबस्सुम (तहखाना), मृदुला गर्ग (कठगुलाब), प्रभा खेतान (छिन्नमस्ता), ममता कालिया (बेघर), मैत्रेयी पुष्पा (चाक),

प्रतिभा राय (द्रौपदी), जिलानी बानो (ऐवान-ए-गज़ल), अलका सरावगी (कलिकथा वाया बाइपास), गीतांजलि श्री (रेत समाधि), नासिरा शर्मा (पारिजात), तस्लीमा नसरीन (लज्जा), चित्रा मुद्गल (आंवा), मेहरुन्सिसा परवेज़ (कोरजा) ने साहित्य में स्त्री को हाशिये से खींचकर केंद्र में लाया ही, पर साथ ही एक बड़ा योगदान उन लेखिकाओं का भी रहा जिन्होंने दलित जीवन में दोहरे दमन को सदियों से झेलती आ रही स्त्रियों को साहित्य में लाने का काम किया।

शांताबाई कांबले की माज्या जल्माची चित्तरकथा, भारतीय साहित्य में रचित पहली दलित महिला आत्मकथा है। आगे चलकर सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा शिकंजे का दर्द और कौशल्या बैसैंत्री की रचना दोहरे अभिशाप, रमणिका गुप्ता की हादसे इस दृष्टि से उल्लेखनीय बनीं कि लेखिकाओं ने एक दलित महिला के जीवन पर पितृसत्तात्मक शिकंजे के साथ-साथ ब्राह्मणवादी समाज के हमले को भी उभारकर रखा।

आज के आधुनिक संदर्भों में अगर हम बात करें, तो निश्चित रूप से हम उस समय से एक लंबा सफर तय कर चुके हैं जब सीता और सावित्री आदर्श भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली थीं। वह समाज ही अब नहीं रहा है जहां पति को परमेश्वर का रूप मानने वाली स्त्री ही स्त्रीत्व का एकमात्र आदर्श हो और 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के तर्ज पर त्याग, दया, आत्म-बलिदान ही भारतीय नारी का तय जीवन।

पर, हर दौर में महिलाओं की स्थिति अपने समय की मुख्यधारा के हिसाब से दोगुना रही है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है, लेकिन अक्सर महिलाओं के पास अपने इस सच को बयान करने, दर्ज करने के साधन नहीं होते थे। और अगर साहित्य के शुरुआती दिनों या आज से कुछ पचास साल पहले के साहित्यिक परिदृश में इस बात को समझें तो पाएंगे कि महिलाओं की रचनात्मकता को सीमित या बाधित करने में गृहस्थी चलाने वाली उनकी पारंपरिक छवि तो आड़े आती ही थी, पर एक अन्य प्रमुख कारक उनके घरेलू या सामाजिक पर्यावरण में प्रोत्साहन की सामान्य कमी भी थी, जिसके अभाव में उनके अंदर की रचनात्मकता कहीं दब-खप जाती थी।

और अगर महिलाएं जब कभी कुछ लिखती भी थीं तो उनकी लेखनी के विषय के संदर्भ में भी सामाजिक अपेक्षाएं थीं कि किस मुद्दे पर लिखा जा सकता है और किस पर कलम नहीं चलानी है। कमला दास इस बात को महसूस करते हुए कहती थीं कि स्वतंत्रता के बहुत बाद तक

भी महिलाओं के पास गंभीर लेखन के लिए सामाजिक और बौद्धिक अधिकारों का नितांत अभाव था और उनके लेखन के लिए कुछ निर्धारित मानदंड थे। वह ज्यादा से ज्यादा घरेलू जीवन के सुख-दुख, नैतिकता और ईश्वर भक्ति पर अपनी लेखनी चला सकती थीं। किसी भी तरह की भौतिकता पर और अंततः 'शरीर' पर लिखना वर्जित था।

पर कई बार महिलाएं इसलिए भी लेखन नहीं कर पातीं और जो आज भी किसी-न-किसी स्तर पर सच है कि स्त्रियों के पास वह अपना स्पेस नहीं होता जिसमें टिककर वह अपने विषय में या अपने परिवेश के विषय में सोच सकें। एक निजी स्पेस की गोपनीयता और एकांत की कमी की बात 1929 में वर्जीनिया वूल्फ ने भी मानी थी और महिलाओं में रचनात्मकता की कमी के लिए काफी हद तक 'अपना खुद का कमरा' न होने को जिम्मेदार ठहराया था।

स्वयं मन्नू भंडारी को अपने घरेलू परिवेश में प्रतिबद्धता और समय की कमी महसूस होती थी, जो पुरुष लेखकों का जन्मसिद्ध अधिकार होता था। अपनी आत्मकथा एक कहानी यह भी में मन्नू बतलाती हैं कि किस तरह आपका बंटी लिखने के लिए उन्हें महीनों घर के परिवेश से दूर हॉस्टल में रहना पड़ा था।

बहरहाल, साहित्य देखा जाए तो दो स्तरों पर काम करता है। एक तो वह, जहां यह संरक्षण देता है, जहां लेखक अपनी बात को लोगों तक पहुंचाने का एक मंच प्राप्त कर सकता है। तो वहीं साहित्य एक दूसरे स्तर पर लेखक को उसके संरक्षित भाव-जगत से बाहर भी निकालता है। अपनी जाति, इतिहास और संवेदनाओं को, जो अब तक कहीं भीतर दबे-छुपे पड़े थे, एक लेखक के लिए उन्हें शब्दों में ढाल देने का मतलब है अपनी भेद्यता (वलनेरबिलिटी) को सब के सामने रख देना।

साहित्य में जिस स्त्री दृष्टि की बात हम कर रहे थे, वह इस भेद्यता को स्वीकार कर पाने के बाद ही आती है, जो लेखिकाओं ने किया है। और एक बार जब अभिव्यक्ति की उस सीमा (थ्रेसहोल्ड) को पार कर लिया जाता है, तो उसके बाद की स्थिति इतनी मुक्तिदायी होती है कि वह सिर्फ लिखने वाले तक नहीं बल्कि उसे पढ़ने वाले पाठकों को भी मुक्त करने की क्षमता रखती है। साहित्य में स्त्री दृष्टि निजी मुक्ति का नहीं बल्कि सामूहिक मुक्ति का आख्यान रचती है, इसीलिए ज्यादा समावेशी है और अपने वृत्त में पूरी मानवता को समेट लेती है।

परंपराओं से सवाल करने वाली बोल्ड लेखिका इस्मत चुगताई

अदिति भारद्वाज

//

इस्मत कहा करती थीं, 'मैं रशीद जहां की किसी भी बात को बेझिझक, खुले अंदाज़ में बोलने की नकल करना चाहती थी। वो कहती थीं कि तुम जैसा भी अनुभव करो, उसके लिए शर्मिंदगी महसूस करने की जरूरत नहीं है, और उस अनुभव को ज़ाहिर करने में तो और भी नहीं है क्योंकि हमारे दिल हमारे होंठों से ज़्यादा पाक हैं'

उर्दू साहित्य की अविस्मरणीय लेखिका इस्मत चुगताई की पुण्यतिथि पर आज बात करने का उद्देश्य सिर्फ उनकी ज़िंदगी का जश्न मनाना नहीं है, क्योंकि जिस व्यक्ति को स्वयं पुण्यतिथियां मनाने की रवायत से कोफ़्त हो, उनकी पुण्यतिथि को याद करना तो किसी हिमाकत से कम नहीं है। इस्मत चुगताई के उनके अज़ीज़ दोस्त सआदत हसन मंटो के गुजरने के बाद उन्हें मिलने वाली इज़्ज़त अफ़ज़ाई से बड़ी हैरत में रहती थीं। हैरत की वजह भी थी कि जिस व्यक्ति और उसकी लेखनी को जीते जी सम्मान और प्रशंसा के क्राबिल नहीं समझा गया, विकृत और अश्लील साहित्य कहकर साहित्य की कोटियों में नीचे रखा गया, निंदा और गाली-गलौज की हद तक जा पहुंचे पत्रों से जिसकी अलमारियां भर दी गई हों, उस मंटो के लिए उसके निधन के बाद साहित्य सभाएं करना, पत्रिकाओं के समर्पित 'मंटो' विशेषांक निकालना अगर समाज का दोगलापन नहीं तो और क्या था?

और इसी विरोधाभास को लक्ष्य करते हुए इस्मत ने अपने एक साक्षात्कार में भी कहा था, 'जब मंटो का इंतकाल हुआ, तो 'नक्श'(पत्रिका) में उसे समर्पित करता हुआ मंटो अंक निकला था। अभी 18 जनवरी को पाकिस्तान में उसकी पुण्यतिथि मनाई जाने वाली थी, तो उसी सिलसिले में आयोजकों ने मुझसे भी मंटो पर कुछ लिखने

को कहा। मैंने एक चिट्ठी लिखकर पूछा कि वह 'मंटो' की पुण्यतिथि पर जश्न क्यों मना रहे हैं। मैंने आलेख नहीं लिखा, पर उस आयोजन के अध्यक्ष से यह पूछा कि आप अब क्यों उसकी पुण्यतिथि मना रहे हैं?' अब अचानक से आपको ये लगने लगा है कि वह एक महान आदमी था? जैसे ही वह मरा, आप लोग उसकी पूजा करने लगे? क्या बकवास है ये? मरे हुए लोगों को पूजना।'

जब अपने व्यक्तित्व को एक बंधे-बंधाए फॉर्मूला पर ही ढालने की जरूरत न महसूस हो तो अक्सर वह व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है जो किसी भी तरह के दिखावे से रहित, बेबाक और पारदर्शी होता है। कुछ ऐसे ही इस्मत चुगताई का व्यक्तित्व उर्दू साहित्य ही में नहीं बल्कि अपने समकालीन समाज के लिए भी एक ज़बरदस्त आंदोलन लेकर आया था।

उनके व्यक्तित्व की तेजस्विता अपने दौर की महिलाओं के औसत व्यक्तित्व की तुलना में एक दुर्लभ घटना थी। और इस तूफानी व्यक्तित्व का आभास हमें उनके साहित्य से तो बाद में पता चलता है, पर उनके साक्षात्कारों में जिस साफ़गोई से वह अपनी बात रखती हैं, उनके व्यक्तित्व के बारे में बतलाने के लिए काफी है।

उर्दू में प्रगतिशील साहित्य को परिभाषित करने में अगर रशीद जहां ने 'अंगारे' में एक बीज जैसी शुरुआत

की थी, तो चुगताई उसी बीज से निकला वह विशालकाय वटवृक्ष थीं, जिसने साहित्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की संभावनाओं को एक स्पष्ट और सशक्त आकार दिया।

चुगताई ने खासकर के एक ऐसे समय में जब स्त्रियों द्वारा लेखन ही बड़ी बात थी और जो भी था वह परंपरा के ही अनुकूल था, ऐसे में साहित्य की उस वैकल्पिक धारा का सोता खोल कर रख दिया, जिसने परंपराओं से प्रश्न करना और रूढ़ियों को तार-तार करना भी साहित्य का एक उद्देश्य बना दिया।

उन्होंने अपने मुस्लिम संदर्भों पर जिस कदर लेखनी चलाई है, वह किसी समाजशास्त्रीय अध्ययन से कम नहीं है। कल्पना के प्रयोग से लिखी उनकी कहानियों और उपन्यासों में यथार्थ का वह विचित्र रूप दिख जाता है, जो उनकी बेहतरीन किस्सागोई का उदाहरण है।

मुस्लिम मध्य वर्ग की स्त्रियों के जितने भी संभव चित्र हों सकते हैं, वह हू-ब-हू उनके रचना संसार का हिस्सा बन जाते हैं और इन चित्रों के माध्यम से उन्होंने इन साधारण-से लगने वाले चरित्रों के असाधारण अन्तः जगत का उद्घाटन किया है।

उनके समकालीन उर्दू साहित्य, जहां रजिन्दर सिंह बेदी, सआदत हसन मंटो और कृष्ण चंद्र का नाम उल्लेखनीय है, इस्मत का स्थान सबसे विशिष्ट रहा है, तो इसलिए कि उन्होंने स्त्री के मनोजगत के उस भीतरी संसार को पत्रों पर लाया जो अब तक उर्दू ही नहीं, पूरे भारतीय साहित्य में भी ढका हुआ था।

दुनिया में समाज-संस्कृति, राजनीति, इन सबको बनाने-चलाने वाले अकसर पुरुष ही हुए हैं, ऐसे में अगर औरतें अपने अनुभव के आधार पर अपनी बात रखती हैं तो उसे सिर्फ एक 'महिला की उक्ति' के रूप में देखकर एक अत्यंत सीमित दायरे में परिभाषित कर दिया जाता है।

हमारे इतिहास, भूगोल, धर्म, संस्कृति, राजनीति, इन सब को मात्र पुरुषों द्वारा कही गई उक्ति मान कर तो सीमित या अस्वीकार नहीं कर दिया जाता? यह सामाजिक स्वीकार्यता युगों-युगों से चली आ रही है।

इस तरह यह स्वतः सिद्ध है कि स्त्री को वाकई हमारे समाज ने पुरुषों से दोयम दर्जे पर रखा हुआ है, तभी

तो उनके द्वारा कहे गए अनुभवों को एक विशिष्ट कैटेगरी में डाल कर सार्वभौमिकता के तत्व या सैद्धांतिक स्वीकार्यता के पक्ष से एकदम ही रहित कर दिया जाता है।

इस्मत चुगताई के साहित्य के संदर्भ में भी यह विश्लेषण अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण है। प्रसिद्ध आलोचक और साहित्य-इतिहासकार रक्षंदा जलील इस संदर्भ में लिखती हैं, 'अपने जीवनकाल में ही इस्मत को एक विशिष्ट अर्थों में, कुछ विशिष्ट छवियों में रूढ़ कर दिया गया था : मसलन, एक महिला लेखक जो तथाकथित 'बोल्ड' विषयों पर लिखती हैं, जो बेबाक कुछ भी कहने की क्षमता रखती हैं, जो उत्तेजक वक्तव्य दे सकती हैं, जो एक तरह से बातूनी भी हैं और व्यंग्य कस सकती हैं, इसलिए बहुत ज्यादा गंभीरता से भी लेने की आवश्यकता जिन्हें नहीं है।'

इसलिए जिस प्रकार की लोकप्रियता इस्मत को हासिल हुई थी, उसने उनके साहित्य के विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन के अवसर से इस्मत को बहुत हाल तक वंचित रखा था।

यहां तक कि इस्मत के मित्र कृष्ण चंद्र भी उनकी रचना 'चोटें' की भूमिका लिखते हुए इस्मत को एक महिला लेखक के रूढ़ विशेषण में ही बांधकर देखते हुए लिखते हैं, 'उसकी कहानियां को समझना उतना ही दुरूह और कठिन है, जितना एक स्त्री के हृदय की थाह पाना।'

इस्मत की रचनाओं पर बारंबार उसके आपत्तिजनक थीम को लेकर वाद-विवाद हुए हैं। मध्यवर्गीय संभ्रांत संवेदना के लिए उनकी रचनाओं की कथावस्तु और स्त्री पात्रों का व्यक्तित्व कुछ अधिक ही बोल्ड लगता है।

पर इस संदर्भ में वह जिस प्रकार से अपनी बात रखती हैं, वह उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता और अपने विश्वासों के प्रति अडिग बने रहने का ही नमूना है,

'अपनी कहानियों में मैंने सब कुछ एक वस्तुनिष्ठता/ तटस्थता के साथ लिखा है। अब अगर कुछ लोग इन्हें आपत्तिजनक या गंदा मानते हैं, तो वो भाड़ में जाएं। मेरा ये विश्वास है कि वैसे अनुभव कभी भी अश्लील नहीं हो सकते जो जिंदगी के प्रामाणिक यथार्थ पर आधारित होते हैं। ऐसे लोग सोचते हैं कि पर्दों के पीछे छुपे रहकर कुछ करने में कोई आपत्ति नहीं है। ये सभी लोग सिरफिरे और मूर्ख हैं।'

इस्मत की रचनाधर्मिता अगर बोल्ड थीम को अपना आधार बनाकर चलती है, तो वह सिर्फ इसीलिए कि वह समाज द्वारा निर्धारित 'पारंपरिक' नैतिकता को चुनौती दे सके।

अगर उनकी कहानियों की स्त्रियां अपने जीवन में चयन की आजादी के पक्ष में खड़ी और रूढ़ियों की मुखालिफत करती दिखती हैं, तो वो इसीलिए कि वह पुरुषों द्वारा महिलाओं के लिए नियत किए गए स्थान को स्वीकार नहीं करना चाहतीं।

इसीलिए अगर उनकी रचनाओं को यदि सिर्फ स्त्रियों के आंतरिक मनोजगत और यौन इच्छाओं के प्रदर्शन के दायरे तक ही सीमित करके देखा जाए, तो यह देखने वालों की अपनी दृष्टि का ही दोष है जैसा कि स्वयं प्रगतिवादी आलोचकों की इस्मत की रचनाओं की इकहरी आलोचनाओं में झलकता है।

अजीज़ अहमद जैसे आलोचक तो इस्मत की कहानियों में उनकी खुद की उपस्थिति को ही देखते हैं और रचना के आत्मकथात्मक स्वरूप को बार-बार रेखांकित करते हैं।

पर जलील कहती हैं कि 'मेरी नज़र में तो इस विशेषता को चुगताई के लेखन की सबसे बड़ी ताकत के तौर पर देखा जाना चाहिए। एक ऐसी क्षमता जहां अपने सबसे निजी और आस-पास के अनुभव से एक ऐसा कथा संसार रच पाना, जो देश-काल की सीमाओं को लांघता हुआ, समकालीन परिप्रेक्ष्य के कई मुद्दों जैसे कि नारीवाद, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद विरोधी चेतनाओं, से लैस हो जाता है, तो यह ही तो एक नैसर्गिक लेखक की सबसे बड़ी पहचान है।'

इस्मत के जीवन के साथ विरोधाभास भी साथ-साथ लगे हुए थे। एक तरफ असीम लोकप्रियता, तो वहीं आलोचनाओं की भी पराकाष्ठा भी उन्होंने देखी।

स्वयं उनके प्रगतिशील आंदोलन के साथियों ने उनके साहित्य की कथा वस्तु पर प्रश्न-चिह्न लगाए थे। पर देखा जाए तो उनकी सबसे विवादास्पद कहानी लिहाफ़, जिसके चलते उन्हें कई आलोचनाओं यहां तक कि अश्लीलता के आरोप में अदालती मुकदमे का भी सामना करना पड़ा, पर भी किसी भी तरह से अतिशय सेक्सुअल होने का आरोप नहीं

लगाया जा सकता है।

पर अपनी रचनात्मकता पर लगने वाले इन आरोपों से वह कभी बहुत ज़्यादा प्रभावित हुईं हों, ऐसा नहीं था। वह स्वयं यह स्वीकार करती थीं कि 'लाहौर में चले इस मुकदमे ने मुझे और मंटो (उसी मुकदमे में सह अभियुक्त) को न ही मानसिक रूप से परेशान किया था और न ही उसके जीत जाने की खुशी ही हमें हुई थी।'

एक साहित्यकार के बनने में कई सारी शक्तियां अपने-अपने स्तर पर कार्य करती दिखतीं हैं। थोड़े गैर-पारंपरिक पृष्ठभूमि से आने की वजह से इस्मत के उच्च मध्यवर्गीय परिवार में एक प्रकार का खुलापन था।

पिता की तबादले वाली सरकारी नौकरी की वजह से बचपन और बड़े होने के दिन विभिन्न स्थानों पर बीते। भाइयों के साथ पले-बढ़े होने के कारण इस्मत ने कभी खुद को लड़कों से कम नहीं समझा। और यह भी घर की उदार तरबियत का ही असर था कि उन्होंने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि एक स्त्री होने के नाते उन्हें शर्माना चाहिए या दबा हुआ होना चाहिए।

वे लिखती हैं, 'मुझमें कुछ ऐसा जरूर है जो मुझे किसी भी चीज़ को बिना सवाल उठाए, चुपचाप स्वीकार नहीं करने देता। हमें किसी भी बात के समर्थन से पहले उसके विरोध के सभी बिंदुओं का पूर्ण परीक्षण कर लेना चाहिए।'

इस्मत पर अपने समय की सुप्रसिद्ध प्रगतिशील उर्दू लेखक और विचारक रशीद जहां का गहरा प्रभाव पड़ा था, जिसे स्वयं उनकी आत्माभिव्यक्ति से समझा जा सकता है। महफ़िल को दिए एक साक्षात्कार में इस्मत ने कहा था :

'मेरे परिवार को लगता था कि उन्होंने (रशीद जहां ने) मुझे बिगाड़ दिया है। और वह इस अर्थ में कि वह बड़ी बोल्ड थीं और किसी भी बात को बेझिझक, खुले और स्पष्ट रूप से कहती थीं और मैं उनके इसी अंदाज़ की नकल करना चाहती थी। वह कहा करती थीं कि तुम जैसा भी अनुभव करती हो, उसके लिए शर्मिंदगी महसूस करने की जरूरत नहीं है, और उस अनुभव को अभिव्यक्त करने में तो और भी शर्मिंदगी होने की बात नहीं है, क्योंकि हमारे दिल हमारे होंठों से ज़्यादा पाक हैं।'

और इसी प्रभाव का एक निर्णायक रूप इस्मत के प्रगतिशील लेखक आंदोलन से जुड़ने में दिखता है। 1936 में जब वह स्नातक में थीं, तब सबसे पहले प्रगतिवादी लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में (जिसकी अध्यक्षता प्रेमचंद कर रहे थे) वह शामिल हुईं। और उसके बाद से इस आंदोलन से काफी सक्रिय रूप से जुड़ गईं। पर वह स्वयं कहती हैं कि उनकी स्पष्टवादिता और बेबाकी से बात कहने की प्रवृत्ति किसी भी वैचारिक आंदोलन के लिए या किसी भी पार्टी के लिए एक खतरे वाली बात थी, जो उन्हें उस आंदोलन या पार्टी के हाशिये पर ही रखती थी, केंद्र का हिस्सा नहीं बनने देती।

एक घोषित मार्क्सवादी होने के बावजूद भी वो यह स्वीकार करती थीं कि सर्वहारा वर्ग के संघर्ष से उनकी रचनाशक्ति का तादात्म्य नहीं हो पाता क्योंकि वह स्वयं उस वर्ग से नहीं थीं, इसलिए उनके अनुभव भी वह व्यक्त नहीं कर सकती थीं। इसलिए उनकी रचना के केंद्र में तथाकथित मध्य वर्ग और उसमें भी स्त्रियों का पक्ष अधिक शक्तिशाली प्रस्तुति पाता है।

इस दृष्टि से प्रगतिवादी साहित्य के दिन-ब-दिन अधिक कठोर और निश्चित होती हुई परिभाषा के अंतर्गत उनके साहित्य को वह महत्व प्रगतिवादी आलोचकों ने नहीं दिया जो उन्हें मिलना चाहिए था।

आलोचकों से कतिपय उपेक्षित इस्मत का साहित्य अपने प्रगतिशील समकालीन रचनाकारों की स्वीकृति के लिए भी कतार से बाहर ही नज़र आता था। उर्दू साहित्य में किस्सागोई के लिए इस्मत के योगदान को कथावस्तु के नयेपन के लिए तो माना ही जाता है, भाषा भी एक नए कलेवर के साथ उनकी रचनाओं में आई है।

गंगा-जमुनी तहज़ीब से रचे-बसे पूरे संयुक्त प्रांत की संस्कृति इस भाषा में ज्ञांकती है। बातचीत का एक ख़ास लहज़ा, जिसमें मुस्लिम घरों की संस्कृति और स्त्रियों की छवियां एक साथ बसी रहती हैं, जिसे 'बेगमाती ज़बान' भी कहा जाता है, वह इस्मत की भाषा की मौलिक विशिष्टता है।

इस सहज-सरल भाषा के संदर्भ में इस्मत कहती हैं, 'साहित्यिक जिसे कहते हैं, मैंने नहीं लिखा। मैंने हमेशा वही लिखा है, जैसे मैं बोलती हूँ। साधारण बोलचाल की भाषा में, साहित्यिक भाषा में नहीं। और इसलिए व्याकरण की दृष्टि

से भी अशुद्ध भाषा में लिखा करती थी क्योंकि बोलचाल की भाषा में व्याकरण का ध्यान नहीं रखा जाता। पर यह मेरी भाषा नहीं थी, जिसे लोगों ने नोट किया था, बल्कि मेरे लिखने का तरीका, जिस खुलेपन से मैं लिखती हूँ, वह नोटिस किया गया था।'

पढ़ने-लिखने की कमज़ोर पड़ती हुई संस्कृति, जिस पर हम आज विचार करते हैं, इस्मत के समय की भी उभरती हुई वास्तविकता थी। यह वह दौर था, जब लंबे उपन्यासों के दिन लदने लगे थे। इसके संदर्भ में वे कहा करती थीं,

'लोग अब लंबे-लंबे उपन्यास नहीं पढ़ना चाहते। इसकी जगह वे फिल्म देखना ज़्यादा पसंद करते हैं। इससे भी ज़्यादा, पढ़ी-लिखी जनता, अब उर्दू या हिन्दी उपन्यास नहीं बल्कि अंग्रेज़ी नॉवेल पढ़ना चाहती है। उर्दू साहित्य पढ़ना फैशन की चीज़ नहीं रही। आम जनता अगर पढ़ती भी है तो बहुत ही चलताऊ, सस्ती किस्म के किस्से-कहानियां, वह गंभीर साहित्य नहीं पढ़ना चाहती।' इसी तरह उर्दू और हिन्दी के संदर्भ में भी इस्मत के विचार भाषा और संस्कृति के पारस्परिक संबंधों को दिखलाते हैं।

उर्दू ज़बान की सांस्कृतिक गतिशीलता को जहां वह एक और स्वीकार करते हुए यह मानती हैं कि 'यह ज़बान लोगों के बीच लोकप्रिय ही बनी रहेगी क्योंकि यह लोगों की बनाई गई ज़बान है, तो वहीं दूसरी ओर उर्दू की लेखनी के विषय में वह यह स्वीकार करती थीं कि उर्दू की लिपि वास्तव में बड़ी ही कठिन और दुरूह है, किसी भी प्रकार की वैज्ञानिकता का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। इसके बर-अक्स, हिन्दी की लिपि ज़्यादा व्यवस्थित और विधिवत है, जो आसान भी है और स्वर की दृष्टि से सही भी। पर इन दोनों ही भाषाओं को लेकर जो विवाद उठते हैं, वह महज़ राजनीतिक हथकंडे हैं, जो भाषा का, जो कि संस्कृति की वस्तु है, उसका राजनीतिकरण करती है।'

बहरहाल, इस्मत चुगताई की पूरी शिष्टियत उनके दृढ़ विश्वासों और अन्तःप्रेरणाओं से बनी हुई लगती है, जो समाज के पर्दों को उठाते हुए डरती नहीं। और इसलिए उनके अफसाने भी उनकी ज़िंदगी के इस साहसी रुख से ही प्राणशक्ति लेते हुए उन अंधेरे कोनों पर रोशनी फेरते हैं जिसे साहित्य और समाज दोनों ने उपेक्षित रखा था।

स्त्री मन की गांठ खोलने वाली कथाकार कृष्णा सोबती

रमाशंकर सिंह

//

‘मित्रो मरजानी’ के बाद सोबती पर पाठक फ़िदा हो उठे थे। ये इसलिए नहीं हुआ कि वे साहित्य और देह के वर्जित प्रदेश की यात्रा पर निकल पड़ी थीं। ऐसा हुआ क्योंकि उनकी महिलाएं समाज में तो थीं, लेकिन उनका जिक्र करने से लोग डरते थे।

यह एक सुंदर खबर है कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में योगदान के लिए दिया जाने वाला देश का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान ज्ञानपीठ पुरस्कार वयोवृद्ध कथाकार कृष्णा सोबती को दिए जाने की घोषणा की गयी है। पिछले एक दशक से वे इस सम्मान की हकदार मानी जा रही थीं। इस बार जब उनके नाम की घोषणा हुई तो महसूस हुआ कि ज्ञानपीठ ने अपनी भूल सुधार ली है।

ध्यातव्य है कि नामवर सिंह की अध्यक्षता वाली जूरी ने उन्हें 53वां ज्ञानपीठ पुरस्कार देने का निर्णय लिया है। यह पुरस्कार साहित्य के क्षेत्र में उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए प्रदान किया जाएगा। पहले ज्ञानपीठ पुरस्कार किसी रचना विशेष के लिए दिया जाता था, लेकिन हाल के वर्षों में इसे रचनाकार के पूरे लेखकीय अवदान के लिए दिया जाने लगा है। इस प्रकार यह एक जीवन को सम्मानित करने जैसा है जिसके बीच में रहते हुए कोई रचनाकार कुछ सिरजता है।

कई साहित्यिक पुरस्कारों से नवाजी जा चुकी कृष्णा सोबती को हिंदी कथा साहित्य की मजबूत स्वर रही हैं। वे हमेशा अपने कथा शिल्प में नए-नए चरित्रों को गढ़ने में उस्ताद कारीगर रही हैं।

उनके हर उपन्यास या कहानी का चरित्र अपने पिछले चरित्र से आगे निकल जाता है। जिन्होंने उनके उपन्यास ‘सूरजमुखी अंधेरे के’ को पढ़ा है वे जानते हैं कि ‘सूरजमुखी अंधेरे के’ और ‘ऐ



लड़की’ की लड़कियों के चरित्र किस प्रकार से एक दूसरे से जुदा हैं।

कृष्णा सोबती के उपन्यास काफी चर्चा में रहे हैं। अपनी आंतरिक बुनावट और संदेश के लिए ‘सूरजमुखी अंधेरे के’ (1972) और ज़िंदगीनामा (1979) हिंदी कथा साहित्य में मील का पत्थर माने जा सकते हैं।

‘सूरजमुखी अंधेरे के’ में अलगाव से जूझती एक ऐसी महिला की कहानी है जिसने अपने जीवन के उत्तरार्ध में वह चुना जिसे उसे बहुत पहले चुन लेना चाहिए। ज़िंदगीनामा का वितान बड़ा है जिसमें पंजाब

के समाज का रोजमर्रापन और उसके बीच अपने लिए गुंजाइशों निकालते इंसानों की टूटी-बिखरी गाथाएं हैं।

पाठकों की कथाकार

उनकी लंबी कहानी ‘मित्रो मरजानी’ के प्रकाशन के साथ कृष्णा सोबती पर हिंदी कथा-साहित्य के पाठक फ़िदा हो उठे थे। ऐसा इसलिए नहीं हुआ था कि वे साहित्य और देह के वर्जित प्रदेश की यात्रा की ओर निकल पड़ी थीं बल्कि उनकी महिलाएं ऐसी थीं जो कस्बों और शहरों में दिख तो रही थीं, लेकिन जिनका नाम लेने से लोग डरते थे।

यह मजबूत और प्यार करने वाली महिलाएं थीं जिनसे आज़ादी के बाद के भारत में एक खास किस्म की नेहरूवियन

नैतिकता से घिरे पढ़े-लिखे लोगों को डर लगता था। कृष्णा सोबती का कथा साहित्य उन्हें इस भय से मुक्त कर रहा था।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में पढ़ाई कर रहे अंकेश मद्धेशिया कहते हैं, 'उन की नायिकाएं अपने प्रेम और अपने शरीर की जरूरतों के प्रति किसी भी तरह के संकोच या अपराधबोध में पड़ने वाली नहीं थीं। आज तो यौन जीवन के अनुभवों पर बहुत सी कहानियां लिखी जा रही हैं पर आज से चार-पांच दशक पहले इस तरह का लेखन बहुत ही साहसिक कदम था।'

वास्तव में कथाकार अपने विषय और उससे बर्ताव में न केवल अपने आपको मुक्त करता है, बल्कि वह पाठकों की मुक्ति का भी कारण बनता है। उन्हें पढ़कर हिंदी का वह पाठक जिसने किसी हिंदी विभाग में पढ़ाई नहीं की थी लेकिन अपने चारों तरफ हो रहे बदलावों को समझना चाहता था।

वह चाहता था कि वह सब कुछ कह दे जो 'बादलों के घेरे में' कहानी का नैरेटर मन्नू से कहना चाहता था। अपने मन में बस रही एक समानांतर दुनिया से मुक्ति के लिए कृष्णा सोबती की कहानियां मन में धंस जाती थीं।

गांधी बाबा, हिंदी भाषा का साहित्य और कृष्णा सोबती के अनुभव

1920 के दशक से ही महात्मा गांधी एक व्यक्ति और विचार के रूप में भारतीय कथा साहित्य के परिदृश्य पर छाने लगे थे। मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, निराला, सुमित्रानंदन पंत और नागार्जुन जैसे रचनाकार अपनी रचनाओं में गांधी के व्यक्तित्व और उनके विचार से दो-चार हो रहे थे।

आजादी के ठीक बाद आया फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास मैला आंचल उस ठगी को उजागर कर रहा था जो उस दौर के भारत में गांधी की हत्या के बाद की जा रही थी। 'झूठा सच' उपन्यास में यशपाल, 'तमस' में भीष्म साहनी और राही मासूम रज़ा 'आधा गांव' में पाकिस्तान के सवाल और उससे उपजी हिंसा को उत्तर भारतीय पाठकों के विमर्श में ले आए थे।

यह एक ऐसा वर्ग था जो सार्वजनिक दायरों में गांधी की प्रशंसा करता था और भाई-बंधुओं और गोतियों के साथ उग्र राष्ट्रवादी हो उठता था। यह वर्ग आज भी है। कृष्णा सोबती ने हाल ही में एक अद्भुत उपन्यास 'गुजरात पकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' लिखा है जिसमें उनके लंबे जीवन और उस जीवन की महात्मा गांधी से मुठभेड़ का वर्णन भी है।

यह उपन्यास जैसे उन घटनाओं को याद करना है जो भारत (और पाकिस्तान) की आजादी के दौरान के अंतिम दो-तीन वर्षों में घट रही थीं। दस अगस्त 1946 के 'डायरेक्ट एक्शन डे' के बाद मुसलमानों और हिंदुओं ने लाहौर से लेकर बिहार और बंगाल तक

हिंसा की। दूसरे धर्म के लोगों की हत्या की, घर जलाए और उस धर्म विशेष की महिलाओं का बलात्कार किया।

महिलाओं की देह अलग-अलग देशों के पुरुषों की दंभ और तुच्छ वीरता का शिकार हो गयी। अगर कृष्णा सोबती की कहानी 'और सिक्का बदल गया' को उनके 'गुजरात पकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान' से मिलाकर एक साथ पढ़ा जाए तो समझ में आ जाता है कि भारतीय उपमहाद्वीप में स्त्री देह और मन पर क्या गुजरी है और उसे उस्ताद किस्सागो कृष्णा सोबती कैसे कहती हैं।

आजादी के बाद की धार्मिक और राजनीतिक जद्दोजहद को महात्मा गांधी का व्यक्तित्व सबसे ज्यादा व्यक्त कर रहा था। इस दौरान भारत और पकिस्तान स्वतंत्र 'देश' बनकर खुश नहीं थे, वे कुछ और हो जाना चाहते थे। गांधी इसमें रूकावट पैदा कर रहे थे। धर्मांध संवेदनाओं और तुच्छ राष्ट्रवाद से घबरा गए एक आदमी ने गांधी को गोली मार दी।

—साहिब बापू को गोली मार दी गई है।

—हाय रब्बा! अभी यह बाकी था। अंधेर साईं का—अरे किसने यह कुकर्म किया?

महात्मा गांधी को गोली मारने वाला न शरणार्थी था, न मुसलमान, वह हिंदू था। हिंदू...

लानतें—लानतें—अरे हत्यारों लोग वैरियों, दुश्मनों और तुम पितृ हत्या करने चल पड़े!

भाषा और स्त्री मन

भारतीय कथा साहित्य में जिन स्त्री कथाकारों को स्त्री मन की गांठ खोल देने वाला कहा जा सकता है, उनमें असमिया की इंदिरा गोस्वामी और कृष्णा सोबती का नाम बड़े आदर से लिया जाता है।

अपने एक साक्षात्कार में इंदिरा गोस्वामी ने एक बार कहा भी था कि मैं अपने जीवन के प्राथमिक अनुभवों से लिखने की कोशिश करती हूं। मैं केवल इतना भर करती हूं कि उन्हें अपनी कल्पनाओं के सांचे में ढाल देती हूं।

इंदिरा गोस्वामी से लगभग 18 बरस पहले गुलाम भारत में जन्मी कृष्णा सोबती के पास पंजाब, शिमला और दिल्ली की हजारों महिलाओं के साझा और व्यक्तिगत अनुभव हैं। यह अनुभव उन्हें इस महाद्वीप में विशिष्ट बनाते हैं।

स्त्रियों की मुक्ति की छटपटाहटों और घर की चहारदीवारी से बाहर चले जाने की फितनागर हसरतें उनके कथा साहित्य में अनायास ही नहीं चली आती हैं बल्कि उसे उन्होंने एक पारदर्शी भाषा के द्वारा महिलाओं की कल्पना के सांचे में ढाल दिया है।

यह लेख पहली बार नवंबर 2017 को प्रकाशित हुआ था।

उर्दू अदब की बागी आवाज़ रशीद जहां

अदिति भारद्वाज

//

20वीं सदी में भारतीय नारीवाद के शैशवकाल में रशीद जहां न केवल स्त्रियों के विषय में विचार कर सकने वाली उभरती आवाज़ बनीं, बल्कि आने वाले समय के नारीवादी साहित्य के लिए उन्होंने ब्लूप्रिंट तैयार किया। उनका जीवन संक्षिप्त था, रचनाएं कम हैं, पर उनका प्रभाव युगांतरकारी है।

1932 में प्रकाशित 'अंगारे' में चार युवा लेखकों ने अपनी रचनाओं में छुपे विद्रोही तेवर से एक तरह से उर्दू अदब की दुनिया में भूचाल ला दिया। वजह यह कि इस छोटे से संकलन की दस कहानियां, अपने समय और समाज के तथाकथित मूल्यों और ढकोसलों पर एक ऐसा प्रहार थीं, जिसने धार्मिक रक्षकों को ही नहीं बल्कि अवाम को भी हतप्रभ कर दिया।



ज़हीर, अहमद अली, महमुदूज़्ज़फर ने भी अपनी रचनाएं दी थीं, पर चूंकि रशीद एक स्त्री थीं, उनकी हिम्मत तत्कालीन समाज के लिए और भी अधिक असहनीय थी और रशीद को 'अंगारेवाली' के उपनाम से ही जाना जाने लगा।

उर्दू तरक्कीपसंद तहरीर के शुरुआती दौर में रशीद जहां ने जिस तरह से स्त्रियों को साहित्य

के केंद्र में लाने का काम किया वह अभूतपूर्व था, ऐसा नहीं कह सकते पर क्योंकि उनसे पहले भी साहित्य में स्त्रियों की उपस्थिति रचना वस्तु और रचनाकार दोनों ही के स्तरों पर थी, पर मुस्लिम मध्य वर्ग की पर्दे में ढंकी स्त्रियों पर से पर्दा उठाने का काम निश्चय ही रशीद जहां ने किया।

अंगारे ने धर्म और समाज दोनों पर निशाना साधते हुए एक तरह से साहित्य को विद्रोह और प्रश्न का दूसरा नाम बना दिया, इतना ही कि इस संकलन के रचनाकारों के खिलाफ फ़तवे जारी कर दिए गए और अंततः संयुक्त प्रांत की सरकार ने इसपर आजीवन प्रतिबंध लगवा दिया।

यही 'अंगारे' संकलन सही अर्थों में प्रगतिशील लेखन आंदोलन के बीज के रूप में माना जाता है। हालांकि इन चार युवा लेखकों को सर्वत्र विरोध और बहिष्कार का शिकार होना पड़ा, पर जिस व्यक्ति पर सबसे ज़्यादा गाज़ गिरी वो थीं, रशीद जहां। वही रशीद जहां (25 अगस्त 1905-29 जुलाई 1952) जिनकी कब्र पर लिखा गया था— 'कम्युनिस्ट, डॉक्टर और लेखिका।'

अंगारे में रशीद जहां की एक लघुकथा (दिल्ली की सैर) और एक एकांकी (पर्दे के पीछे) शामिल किए गए थे। संकलन में सज्जाद

के केंद्र में लाने का काम किया वह अभूतपूर्व था, ऐसा नहीं कह सकते पर क्योंकि उनसे पहले भी साहित्य में स्त्रियों की उपस्थिति रचना वस्तु और रचनाकार दोनों ही के स्तरों पर थी, पर मुस्लिम मध्य वर्ग की पर्दे में ढंकी स्त्रियों पर से पर्दा उठाने का काम निश्चय ही रशीद जहां ने किया।

'अंगारे' का प्रकाशन इस दृष्टि से भी युगांतरकारी साबित हुआ कि रशीद जहां, जो स्वयं एक मुस्लिम उच्च-मध्य वर्गीय परिवेश से आती थीं और पेशे से डॉक्टर थीं, ने मध्य और निम्न वर्गीय मुस्लिम महिलाओं की स्थिति, स्त्री-देह पर पुरुषसत्तात्मक परिवार और समाज के नियंत्रण पर पहली बार खुल कर कलम चलाई थी, जो अभी तक— ख़ासकर के उर्दू साहित्य में—अभूतपूर्व था।

रशीद जहां, उन गिनी-चुनी महिलाओं में थीं, जो उस दौर (1930 से 1950), जब एक तरफ स्वतंत्रता आंदोलन अपने उफान पर था तो वहीं तरफ समाजवादी लहर का प्रभाव भारतीय मनीषा पर

हो रहा था, जहां पर स्त्रियों के अधिकार सीमित थे, शिक्षा संबंधी स्त्रियों की दशा भी शोचनीय थी, मैं भारतीय साहित्य के फ़लक पर उभरती हूँ और स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक अवस्था पर प्रश्न करती हूँ।

रशीद जहां को एक लेखिका के साथ ही एक समर्पित डॉक्टर (महिला रोग विशेषज्ञ) और एक घोषित साम्यवादी थीं। उनके पिता शेख अब्दुल्ला (1874-1965) जो पापा मियां के नाम से प्रसिद्ध थे, अपने समय के प्रसिद्ध समाज सुधारक थे, जिन्होंने, शिक्षा, विशेषकर स्त्रियों की शिक्षा का क्षेत्रव्यापी आंदोलन चलाया था।

अलीगढ़ में लड़कियों के लिए सबसे पहला आवासीय विद्यालय को खोलने का श्रेय इन्हें ही जाता है। सर सैयद अहमद खां से प्रभावित शेख अब्दुल्ला इस अर्थ में ज्यादा रैडिकल थे कि वह मुस्लिम समुदाय के उत्थान और ज्ञान-विज्ञान से जोड़े जाने मात्र के हिमायती नहीं, बल्कि स्त्रियों की शिक्षा के भी सबसे मुखर समर्थक थे।

इतना ही नहीं, महिला शिक्षा के हिमायती होने के कारण शेख अब्दुल्ला को 'ऑल इंडिया मोहम्मडन कॉन्फ़्रेंस' में स्त्री शिक्षा विभाग का सचिव ही बना दिया गया था। रशीद की मां वहीद जहां भी उस दौर की पत्रिकाओं 'तहज़ीब-उन-निसवां' और 'खातून' (शेख अब्दुल्ला द्वारा प्रकाशित) के लिए लिखा करती थीं।

इस प्रकार रशीद जो अपनी चार बहनों में सबसे बड़ी थीं, एक ऐसे परिवेश की उपज थीं, जिसने न केवल उन्हें एक सांस्कृतिक पूंजी दी बल्कि महिलाओं की सामाजिक स्थिति को लेकर भी संवेदनशील बनाया। स्वयं रशीद के शब्दों में 'वे और उनकी बहनें होश संभालते ही घर पर स्त्री-शिक्षा के गद्दे पर स्त्री-शिक्षा की चादर ओढ़कर सोई थीं।'

रशीद ने आगे चलकर दिल्ली से अपनी डॉक्टरी की तालीम पूरी की और संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की चिकित्सा सेवा में नियुक्त हो कर गांवों और कस्बों में घूम-घूमकर अपनी डाक्टरी सेवाएं दीं। शुरुआत से ही रशीद का व्यक्तित्व कुछ ऐसा विद्रोही और प्रखर था कि अपने आस-पास के साधारण से लोगों में वो सबसे भिन्न नज़र आतीं।

उस ज़माने में जहां मुस्लिम ही नहीं लगभग हर भारतीय स्त्री को पर्दों में रहने की रवायत थी, वहां रशीद बचपन से ही इस पर्दे के खिलाफ थीं। स्त्रियों के लिए लंबे बालों को आदर्श मानने वाले भारतीय समाज में रशीद उस दौर में छोटे बाल रखा करतीं थीं। गांधी जी से प्रभावित होकर आजीवन खादी पहनने का संकल्प लेने वाली रशीद जब अलीगढ़ के अपने विद्यालय में अपने खादी के कुर्ते और चुस्त पजामे में बोलने आया करतीं तो देखने वाले बस देखते रह जाते।

पर उनकी आंखों की चमक और चेहरे के तेज के पीछे उनकी शिक्षा और वैचारिकता का ऐसा सुदृढ़ आधार था, जो उन्हें अपने आस-पास की भीड़ से इतर साबित करता। प्रख्यात उर्दू लेखिका इस्मत चुगताई अपनी आत्मकथा में लिखती हैं कि कैसे रशीद आपा अपनी कॉलेज

की छुट्टियों में अपने घर के कन्या-विद्यालय में नियमित कक्षाएं लेती थीं, जिसका असर इन सब नई लड़कियों पर जबरदस्त पड़ता था। खासकर के, इस्मत पर रशीद का गहरा प्रभाव पड़ा था, जिसे स्वयं उनकी आत्माभिव्यक्ति से जाना जा सकता है।

अपने एक साक्षात्कार में इस्मत ने कहा था— 'मेरे परिवार को लगता था कि उन्होंने (रशीद जहां ने) मुझे बिगाड़ दिया है। और वह इस अर्थ में कि वह बड़ी बोल्ट थीं और किसी भी बात को बेझिझक, खुले और स्पष्ट रूप से कहती थीं—वह कहा करती थीं कि तुम जैसा भी अनुभव करती हो, उसके लिए शर्मिंदगी महसूस करने की जरूरत नहीं है, और उस अनुभव को अभिव्यक्त करने में तो और भी शर्मिंदगी होने की बात नहीं है, क्योंकि हमारे दिल हमारे होंठों से ज्यादा पाक हैं।

रशीद जहां ने भले ही एक पेशेवर लेखक के तौर पर अपने को विकसित न किया हो या अपने जीवन में बहुत अधिक न लिखा हो, पर आगे आने वाली महिला कथाकारों की एक लंबी पीढ़ी का, उनकी इस विद्रोही चेतना ने जैसा संस्कार किया वह हमें इस्मत चुगताई, अतिया हुसैन, रज़िया सज्जाद जहीर, कर्तुल-एन हैदर जैसी लेखिकाओं में देखने को मिलता है।

20वीं शताब्दी के भारतीय नारीवाद के शैशवकाल में रशीद जहां का उभरना नारीवादी महिला लेखन के लिए एक ऐतिहासिक घटना थी। वे न केवल अपने समय की उभरती आवाज़ बनीं जो स्त्रियों के विषय में विचार कर सकती थीं, बल्कि आने वाले समय के नारीवादी साहित्य के लिए उन्होंने एक ऐसा ब्लूप्रिंट तैयार किया जहां से स्त्री को स्त्री के निगाह से देखे जाने की, संवेदना बनाम स्वयंवेदना के बहस की शुरुआत हो सकी।

रशीद जहां की कहानियों के स्त्री चरित्र के गठन के पीछे, रशीद की यह वैचारिकता सुस्पष्ट नज़र आती है कि स्त्रियों को महज़ सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का उद्देश्य बनाने की 19वीं शताब्दी की राष्ट्रवादी-सुधारवादी कवायद को तोड़ने की जरूरत है, क्योंकि महिलाओं को एक सुधार करने वाली वस्तु या टारगेट नहीं बल्कि उस सुधार-प्रक्रिया का सक्रिय हिस्सा बनकर अपनी राजनीतिक भागीदारी सुनिश्चित करने की आवश्यकता है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि नारीवादी संकल्पना में 'व्यक्तिगत को राजनीतिक समझे जाने की चेतना विशेषकर स्त्रियों के संदर्भ में, भारतीय संदर्भ में, हमें सबसे पहले-पहल रशीद जहां में ही दिखलाई पड़ती है। उनके स्त्री पात्र अपनी स्थितियों से समझौता करते नज़र नहीं आते बल्कि स्त्री-पुरुष संबंधों में समानता की मांग करते हैं, आर्थिक स्वनिर्भरता की बात करते हैं, अपने संपत्ति के अधिकार को संरक्षित करते हैं।

इस प्रकार रशीद बारंबार अपनी कहानियों में इस तथ्य की

ओर संकेत करती हैं कि महिलाओं को सांस्कृतिक-घरेलू-आंतरिक-नैतिक—इन सब संकल्पनाओं से भिन्न एक राजनीतिक व्यक्ति की तरह देखने की आवश्यकता है।

उन्होंने ताउम्र, स्त्री के अधिकारों, उनकी दायम दर्जे की नागरिकता और परंपरा के नाम पर रूढ़ियों में फंसे रहने की नियति को संबोधित किया। मुख्य रूप से मुस्लिम मध्य-निम्न वर्ग की स्त्रियों के उस आंतरिक संसार को, पर्दों के पीछे छिपी उस पूरी दुनिया को वे उभारकर पाठकों के सामने रख देती हैं, जो अब तक, संस्कृति, परंपरा, रीति-रिवाज और थोथी नैतिकता के नाम पर अदृश्य बना रहता था।

वे समाज की पुरुष-वर्चस्ववादी व्यवस्था और उसके विरोधाभासों, तहज़ीब-रवायत के दुष्चक्र में छटपटाती स्त्री की स्थिति को उजागर करती हैं। चूंकि वह स्वयं महिलाओं की डॉक्टर थीं, ऐसे में स्त्रियों के शारीरिक कष्टों, विशेष रूप से बारंबार प्रसव की पीड़ा और संतानोत्पत्ति के पूरे कष्ट से महिलाओं के दो-चार होने की स्थिति को उन्होंने एक विश्वसनीय प्रामाणिकता से दिखलाया है।

इस दृष्टि से भी उनकी कहानियां उस समय से कहीं आगे की कहानियां लगती हैं, जहां स्त्री के शारीरिक और मानसिक पक्ष पर खुलकर बात की गई थी।

ऐसे में रशीद जहां का पूरा चरित्र ही लगता है कि रूढ़ियों और विरोधाभासों को तोड़ने के लिए गठित हुआ था— एक ऐसा चरित्र जो न केवल अपने आस-पास कि समस्याओं से प्रभावित होता था, बल्कि इस असमान सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उठाने का साहस भी रखता था, एक ऐसा व्यक्तित्व जो सिर्फ 'परिवर्तन' लाने का स्वप्न नहीं देखता था, बल्कि जिसका जीवन स्वयं ही इस परिवर्तन की जीती-जागती मिसाल था।

अंगारे के सह-लेखक और साथी कॉमरेड महमुदूज़्ज़फर से विवाह के बाद अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर रशीद अमृतसर में स्वतंत्र रूप से चिकित्सक के रूप में काम करने लगीं। अमृतसर का यह दौर उनके जीवन का सबसे व्यस्ततम दौर था जहां न केवल उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य के तौर पर खूब काम किया, बल्कि लेखन भी बढ़स्तूर जारी रहा।

उनका घर, प्रगतिशील युवा लेखकों के लिए किसी मरकज़ से कम न था। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ जो उन दिनों अमृतसर में ही अध्यापन कर रहे थे, रशीद के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित थे। सही माने में प्रगतिशील लेखन आंदोलन के संपर्क में आने का श्रेय फ़ैज़ अमृतसर के अपने इस प्रवास और रशीद जहां और महमुदूज़्ज़फर के संपर्क को ही देते हैं।

रशीद को प्रगतिशील लेखक आंदोलन के साथ भी जोड़ा जाता है, जब परिवर्तन के उद्देश्य से संचालित समाज व्यवस्था में क्रांति लाने की भावना से प्रेरित कुछ युवा साहित्यकारों यथा— मुल्कराज आनंद,

सज्जाद ज़हीर इत्यादि ने 1935 में लंदन में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का मसौदा या घोषणापत्र तैयार किया था और 1936 में औपचारिक तौर पर अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का पहला बड़ा अधिवेशन हुआ था।

रशीद इस अधिवेशन में अपने अंगारे के साथियों के साथ बड़ी मुस्तैदी से जुटी थीं। प्रेमचंद के इस अधिवेशन में दिए ऐतिहासिक अध्यक्षीय भाषण का रशीद पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। आगे चलकर रशीद ने प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी कफ़न का नाट्य रूपांतरण किया और रंगमंच के लिए उसका निर्देशन भी किया।

एक समर्पित डॉक्टर और कामरेड की अनथक परिश्रम की जिंदगी ने रशीद को शारीरिक रूप से प्रायः कमजोर रखा। पर अपनी तमाम व्यस्तता में भी साहित्य के लिए समय उन्होंने हमेशा ही निकाला। समय की इस कमी की वजह से ही उनकी रचनाओं में शिल्प और कला का झूठा आग्रह नहीं दिखता बल्कि अपने विचार को स्पष्ट रूप से अपने पाठकों तक पहुंचाने का आग्रह रहता है।

आगे चलकर पार्टी की पत्रिका 'चिंगारी' के लिए संपादन का कार्य भी जहां ने किया। पर अंततः कैंसर की असाध्य बीमारी ने उन्हें बहुत स्तर पर सीमित कर दिया। महज़ 47 साल की अवस्था में सन 1952 में मास्को में रशीद का निधन हुआ, जहां वह अपने कैंसर के इलाज़ के लिए गई थीं।

मास्को जाने की भी योजना जीवन के इतने अशक्त क्षणों में सिर्फ इसलिए उन्होंने बनाई कि उनके समर्पित साम्यवादी पति अपने जीवन में रूस जा सकें क्योंकि यह वह दौर था, जब कम्युनिस्टों पर सरकारी प्रतिबंध थे और रूस जाना तो और भी मुश्किल था।

बहरहाल, कुछ वस्तुएं या घटनाएं अपने समय से कहीं आगे की होती हैं। रशीद जहां भी अपने समय, अपने परिवेश से कहीं आगे की 'घटना' थीं। परिवर्तन को लेकर के संस्थागत विरोध तो हर युग में होते आए हैं, पर रशीद जहां के विद्रोही साहित्य लेखन और वैचारिकी के पुरजोर विरोध के बाद भी परिवर्तन को स्वीकार कर पाने का साहस उसी समाज में कभी-न-कभी आता है। रशीद जहां की प्रगतिशीलता को भी सहन न कर पाने वाला एक वर्ग अगर था, तो कई वर्ग ऐसे थे जिन्होंने उन्हें खुलकर समर्थन भी दिया था और संभवतः इसी तरह परिवर्तन और प्रतिरोध की ऐतिहासिक शुरुआत स्त्रीवादी साहित्य में हो सकी।

रशीद जहां का जीवन संक्षिप्त था, उनकी रचनाएं कम थीं, पर उनके प्रभाव युगांतरकारी हैं, जिसे समझने और परखने के लिए बार-बार उनके संदर्भ को समझा और नए सिरे से हर युग में व्याख्यायित किया जाएगा।

आज़ादी के अमृतकाल में गुलामी के दौर के संकटों से पार पाने के आंदोलन याद करना ज़रूरी है

कृष्ण प्रताप सिंह

//

किसी ने क्या खूब कहा है कि गुलामी के शिकंजे से बचे रहने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि जब उसकी कोई आशंका न दिख रही हो, तब भी उसके अंदेशों से परेशान (पढ़िए सावधान) रहा जाए। इस लिहाज से देखें, तो आजादी के बहुप्रचारित 'अमृतकाल' में यह याद रखना कहीं ज्यादा ज़रूरी हो जाता है कि गुलामी के दौर में हमने कैसे-कैसे त्रास झेले और कितना खून या पसीना बहाकर उनसे निजात पाई।

इन त्रासों में ब्रिटिशकाल में किसानों व मजदूरों का सबसे बड़ा त्रास बनकर उभरी 'हरी-बेगारी' का नाम सबसे ऊपर आता है। इनमें 'हरी' के तहत किसानों को, जब भी जमींदार की ओर से ज़रूरत जताई जाए, हल व बैलों सहित उसके खेतों में मुफ्त में खटना पड़ता था।

जब भी इसका फरमान आ जाता, किसानों के पास दो ही विकल्प बचते थे अपना ज़रूरी से ज़रूरी काम छोड़कर सुनाया गया हुक्म बजाएं या अपनी जोत वाली कृषि भूमि से जबरिया बेदखली झेलें। कारण यह कि उन दिनों किसान अपनी जोत वाली भूमि के स्वामी नहीं हुआ करते थे और जमींदार जब चाहता, उन्हें उससे बेदखल कर सकता था।

हरी के विपरीत बेगारी या बेगार के तहत मजदूरों को उन महाप्रभुओं के लिए बिना मजदूरी अपनी हड्डियां चटखानी पड़ती थीं, जो अन्यथा अपनी सामंती, साम्राज्यवादी और अफसरशाही शक्तियों के बूते उनका जीना दूभर कर देते थे। 'हरी' का सर्वाधिक कहर किसानों पर तो 'बेगारी' का मजदूरों, घास काटने वालों यानी घसियारों और बैलगाड़ी वालों वगैरह पर टूटता था।

'हरी' तो सिर्फ वह जमींदार ही लेता था, किसान जिसके असामी होते थे, लेकिन बेगार लेने के लिए कोई भी गोरा-काला अफसर, राजा, सामंत, जागीरदार, कारिंदा या कर्मचारी 'आजाद' था।

यूँ यह कहना ज्यादा सही होगा कि इस मामले में बड़े अंग्रेज अफसरों ने राजाओं व सामंतों सबको पीछे छोड़ दिया था। स्वाभाविक ही इससे बेगार पीड़ितों में उन्हीं के विरुद्ध सबसे ज्यादा असंतोष था।

1920-21 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने ऐतिहासिक असहयोग आंदोलन शुरू किया, तो तत्कालीन संयुक्त प्रांत (आज के उत्तर प्रदेश व उत्तराखंड) में बेगार की बीमारी महामारी की तरह फैली हुई थी। हिंदी के अपने वक्त के जाने-माने लेखक कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (29 मई, 1906 - 09 मई, 1995) ने अपनी पुस्तक 'स्वतंत्रता संग्राम की एक झांकी' में इसका वर्णन करते हुए बताया है कि कैसे इस आंदोलन ने 'हरी-बेगारी' का कहर झेल रहे किसानों व मजदूरों को असहयोग और आंदोलन की प्रेरणा दी।

इसी प्रेरणा ने आगे चलकर किसानों-मजदूरों से अपने हकों के लिए कई फैसलाकुन आंदोलन शुरू कराए। उत्तर प्रदेश पर केंद्रित उक्त पुस्तक बताती है कि असहयोग आंदोलन से पहले अंग्रेज अफसर दौरो के नाम पर अपने मुख्यालयों से तहसीलों, कस्बों व गांवों में जाते, तो तहसीलों के चपरासियों की मार्फत मजदूरों व घसियारों वगैरह को जबरदस्ती पकड़वा लेते और उनसे अपराधियों से भी बुरा सलूक करते।

पकड़े गए मजदूरों में कोई अपने बीमार बेटे के लिए दवा लेने डॉक्टर के पास जा रहा होता अथवा बेटी की सगाई या पत्नी-बच्चों के पेट भरने के लिए राशन का इंतजाम करने, तब भी अफसरों व चपरासियों को रहम नहीं आता।

इसके उलट दस की ज़रूरत होती तो पच्चीस मजदूर व घसियारे पकड़ लिए जाते। बाद में चढ़ावा लेकर पंद्रह छोड़ दिए जाते और बाकी मजदूरों को अफसरों के बंगलों, बागों व मैदानों में तरह-तरह के कामों में जबकि घसियारों को घोड़ों के लिए घास काटने में लगा दिया जाता। इन कामों के लिए उन्हें कोई मजदूरी नहीं दी जाती और जरा-जरा-

सी हुक्म-उद्दूलियों पर गालियां देकर मारा-पीटा जाता।

इतना ही नहीं, दौरे पर निकले अफसर जहां डेरा जमाते, वहां मजदूर ही नहीं, बैलगाड़ियों वाले भी बैलगाड़ियों समेत बेगार के लिए धर लिए जाते। तहसील के चपरासी जब भी चाहते, सड़क पर जा धमकते और आती-जाती बैलगाड़ियों को हांकने वालों पर टूट पड़ते। हनक दिखाकर बैलगाड़ियों में लदा सामान वहीं उतरवा देते और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी भी नहीं निभाते।

अति की हद यह कि कोई युवक किसी बैलगाड़ी में अपनी दुल्हन ला रहा होता तो भी साहब का हुक्म बताकर उसे सपत्नीक पैदल कर देते। वह बहुत चिरौरी-मिनती अथवा उनकी जेबें गरम करता तो भले ही थोड़े पसीज जाते, नहीं तो दुल्हन सहित उसे वहीं उसके हाल पर छोड़कर बैलगाड़ी ले जाते। दो-तीन दिन तक अफसर का सामान ढोने में लगाने के बाद लौटाते तो भूखे-प्यासे बैल अधमरे हो गए होते और बैलगाड़ी चू-चर्र बोल रही होती। लेकिन बैल और बैलगाड़ी को क्या कहा जाए, जब युवक, उसकी दुल्हन और उनके परिजनों को हुए त्रास को लेकर भी कहीं कोई अपील या दलील नहीं चलती।

‘साहब’ के नाम पर गांवों से घी-दूध, अंडों व मांस आदि की लूट की जाती, सो अलग। अफसरों के डेरे के पास एक दुकान जबरदस्ती खुलवाई जाती, जिससे मनपसंद रेट पर या मुफ्त सामान लिया जाता। पहाड़ी क्षेत्रों में, जहां बैलगाड़ियां नहीं चलतीं, अफसरों के सामानों की ढुलाई के लिए भी मजदूर ही पकड़े जाते। वहां के हर गांव का मुखिया एक रजिस्टर में सारे ग्रामवासियों के नाम दर्ज रखता और जब भी बेगार के लिए मजदूरों की मांग आती, रजिस्टर खोलता, जिसे चाहता बेगार के लिए भेज देता और जिसे चाहता बख्श देता।

जो बेगार से इनकार करता, उसके सिर पर साहब के कमोड या जूतों की बोरी तक रख दी जाती। एक बार बेगार के लिए पकड़े जाने पर आठ-दस दिन से पहले मुक्ति न मिलती। कई बार पंद्रह-बीस दिन भी लग जाते।

वायसराय के दौरे पर तो अति ही हो जाती। जमींदार ऐसे मौकों को अपने लिए वरदान समझते और वायसराय की निगाहों में चढ़कर अपनी रायबहादुरी पक्की करने के लिए समूची रियाया को बेगार में झोंक देने में भी न लजाते। ऐसे मौकों पर पटवारी और नायब तहसीलदार ही सबसे बड़े अफसर हो जाते और जो भी बेगार का हुक्म न मानता, उसे पकड़ मंगाते और पेड़ों से बंधवाकर जी भर पिटवाते।

बेचारे मजदूर कब तक यह सब सहते रहते? फरवरी, 1921 में तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को सहारनपुर व देहरादून के बीच स्थित मोहंड नामक वन क्षेत्र में शिकार के लिए आना हुआ तो असहयोग आंदोलन मजदूरों की ताकत बन चुका था। सो उन्होंने बेगार करने से साफ मना कर दिया-न अफसरों की सुनी, न जमीनदार और उसके कारिंदों की। बावजूद इसके कि न उन पर धौंस कम जमाई गई, न गालियां कम दी गईं और न मारा-

पीटा ही कम गया।

नायब तहसीलदार कारिंदों के साथ गांवों में जाते तो मजदूर इकट्ठे होकर उन्हें घेर लेते और बेगार से साफ-साफ मना कर देते। अंततः प्रशासन ने हार मानकर बिजनौर से मजदूर बुलाए, लेकिन वे भी हालात देखकर खिसक लिए। तब लारियों में भरकर रेलवे के कुली लाए गए और जैसे-तैसे वायसराय का कार्यक्रम संपन्न कराया गया। फिर भी ग्रामीणों ने अरसे तक मोर्चा खोले रखा और उनके कार्यक्रम में सहयोग करने वाले जमीनदार का सामाजिक बहिष्कार करते रहे।

यहां बेगार पीड़ितों के लिए संघर्ष करने वाली कुमाऊं परिषद द्वारा 1921 में बागेश्वर के मेले में की गई उस ‘रक्तहीन क्रांति’ का जिक्र भी जरूरी है, जिसने तत्कालीन उत्तर प्रदेश (अब उत्तराखंड) के पहाड़ों वाले क्षेत्र में 1815 से चली आ रही बेगार की कुप्रथा का खात्मा सुनिश्चित किया।

दरअसल, उस साल बागेश्वर का मेला आया, तो इस परिषद ने आह्वान कर दिया कि जो भी ग्रामीण मेले में आए, जैसे भी संभव हो, अपने गांव के मुखिया का नामों वाला रजिस्टर साथ लाए और सरयू में प्रवाहित कर दे। ताकि विवरण के अभाव में अफसर उनसे बेगार ले ही न पाएं। गोरी सरकार ने इस आह्वान को विफल करने के लिए साम-दाम, दंड-भेद सब अपनाया।

अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर डायबिल ने मेले में जाकर पहले भीड़ को तितर-बितर हो जाने को चेताया, फिर सशस्त्र पुलिस की बंदूकों के निशाने पर ले लिया। लेकिन ‘कूर्माचल-केशरी’ बंदीदत्त पांडेय ने उसे चेताया कि पीड़ितों के दृढ़ संकल्प के आगे उसकी पुलिस की गोलियां कम पड़ जाएंगी, तो जानें क्या सोचकर उसने पुलिस को पीछे हटा दिया और खुद अपने तंबू में चला गया। फिर तो बेगार पीड़ितों ने संकेत के तौर पर पहले शंख और नरसिंघे बजाए, फिर अपने-अपने गांवों के रजिस्टर सरयू में प्रवाहित कर दिए।

परिणाम यह हुआ कि डिप्टी कमिश्नर डायबिल अगले दिन मेले से अपनी वापसी के वक्त अपना सामान उठाने के लिए बेगार करने वाले मजदूर नहीं जुटा सका। इस मेले से पहले कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन से लौटे कुमाऊं परिषद के कोई पचास कार्यकर्ता 10 जनवरी, 1921 को बागेश्वर पहुंचे थे। उन्होंने 12 जनवरी को जुलूस निकालकर वहां बड़ी सभा की और किसी भी हालत में बेगार न करने की शपथ दिलाई थी।

इतिहासकार प्रो. अजय रावत ने उत्तराखंड के राजनीतिक इतिहास पर अपनी पुस्तक में लिखा है कि वहां इससे पहले भी बेगार के छोटे-बड़े नागरिक प्रतिरोध होते रहे थे। अंग्रेज कमिश्नर ट्रेल ने अपने वक्त में बेगार के खात्मे के लिए खच्चर सेना बनाने का प्रयास किया था, लेकिन विफल रहा था। लेकिन प्रतिरोधों की एक सफलता यह थी कि 1857 में कमिश्नर रैमजे को बेगार करने वालों की कमी जेल के कैदियों से पूरी करनी पड़ी थी।

वरवरा राव : कवि जीता है अपने गीतों में और गीत जीता है जनता के हृदय में

कौशल किशोर

॥

मुक्तिबोध ने कहा था 'तय करो किस ओर हो तुम?' और 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' वरवरा राव इस सवाल से आगे के कवि हैं। वे तय करने के बाद के तथा पॉलिटिक्स को लेकर वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले कवि हैं। उनके लिए कविता स्वांतः सुखाय या मनोरंजन की वस्तु न होकर सामाजिक बदलाव का माध्यम है।

वरवरा राव एक ऐसी शख्सियत का नाम है जो सत्ता के आगे न झुकता है, न दमन से टूटता है। वह समकाल की आवाज बन जाता है। यह आवाज फासीवाद के विरुद्ध प्रतिरोध की आवाज है। इस अंधेरे के खिलाफ रोशनी है, एक उम्मीद है। वह कलम उठाता है और कविता लिखता है। कविता ललकार बन जाती है, कुछ इस तरह :

'जीवन का बुत बनाना
काम नहीं है शिल्पकार का
उसका काम है
पत्थर को जीवन देना
मत हिचको
वो शब्दों के जादूगर!
जो जैसा है, वैसा कह दो
ताकि वह दिल को छू ले'

ऐसी कविताओं से ही वरवरा राव जाने जाते हैं। वे सीधी, सरल, सच्ची और साफ-साफ बात करते हैं। उनकी कविताएं दिल-दिमाग में उतरती हैं। इनमें सामाजिक बदलाव,



जीवन संघर्ष और जागरण के संदेश हैं। उनके लिए कविता का यही काम है। वह लोगों को रोटी नहीं दे सकती है, लेकिन रोटी के लिए संघर्ष की प्रेरणा जरूर दे सकती है। इसी अर्थ में वे पत्थर को जीवन देने की बात करते हैं।

मुक्तिबोध ने कहा था 'तय करो किस ओर हो तुम?' और 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' वरवरा राव इस सवाल से आगे के कवि हैं। वे तय करने के बाद के तथा पॉलिटिक्स को लेकर वैज्ञानिक

दृष्टि रखने वाले कवि हैं। उनके लिए कविता स्वांतः सुखाय या मनोरंजन की वस्तु न होकर सामाजिक बदलाव का माध्यम है। इसलिए उनके लिए कविता करना या कहिए उनका संपूर्ण रचना कर्म सांस्कृतिक काम है। वहां संस्कृति और राजनीति के अंतर्संबंधों को लेकर कोई दुविधा या भ्रम नहीं है। उनकी समझ है कि सामाजिक बदलाव और शोषण उत्पीड़न से मुक्त मानव समाज की रचना के संदर्भ में कवि, कलाकार उसी तरह का योद्धा है जिस तरह एक राजनीतिक कार्यकर्ता। अपनी

स्वायत्तता और विशिष्टता के बावजूद मानव समाज के संघर्ष में दोनों की भूमिका है।

वरवरा राव इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। जेल की कालकोठरी या दमन उत्पीड़न के विभिन्न तौर तरीके उन्हें अपने मकसद से विचलित नहीं कर सका है।

वरवरा राव तेलुगू साहित्य-संसार में चमकता हुआ सितारा हैं। इस साहित्य की खासियत है कि इसने राजनीति को हमेशा से कमान में रखा है। संघर्ष और सृजन इसकी दो आंखें हैं। इसी से तेलुगू का क्रांतिकारी साहित्य पैदा हुआ है। उसकी पहचान बनी है। इसी की देन दिगंबर पीढ़ी के कवियों का क्रांतिकारी के रूप में रूपांतरण है।

आजादी के बाद सबसे पहले तेलुगू के क्रांतिकारी लेखकों का संगठन बना। विरसम (विप्लवी रचियतालु संघम) 1970 में अस्तित्व में आया। प्रलेस (प्रगतिशील लेखक संघ) स्वतंत्रता के उपरांत प्रभावहीन हो चुका था। उसकी आंध्र शाखा के अध्यक्ष महाकवि श्रीश्री ने प्रलेस से नाता तोड़ा और विरसम से जुड़ गए। उनकी घोषणा थी—‘अब जरूरत है क्रांतिकारी लेखन की। सज्जाद जहीर का प्रगतिशील लेखक संघ अपने रास्ते से भटक चुका है। अपने प्रांत में हम झूठी प्रगतिशीलता नहीं चलने देंगे। इसलिए हमने क्रांतिकारी लेखक संगठन बनाया है।’

श्रीश्री के नेतृत्व में सुब्बाराव पाणिग्रही, चेराबंडा राजू, ज्वालामुखी, निखिलेश्वर, एमटी खान, गदर, केवीआर, टी. मधुसूदन राव आदि रचनाकारों द्वारा क्रांतिकारी साहित्य की रचना हुई। नक्सलबाड़ी और श्रीकाकुलम के संघर्ष की प्रेरणा से यह कला व साहित्य के क्षेत्र में जन उभार था। इसे सत्ता के क्रूरतम दमन का शिकार होना पड़ा।

बहुत से कवि व लेखक जो इस आंदोलन में कूद पड़े थे, वे शहीद हो गए। कड़ियों को गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें षड्यंत्र केस में फंसाया गया। अनेक रचनाकारों की नौकरियां चली गईं। वरवरा राव की निर्मिति में साहित्य और संघर्ष के इसी जन उभार की भूमिका थी।

वरवरा राव का जन्म 3 नवंबर 1940 को हुआ। काव्य लेखन की शुरुआत किशोरावस्था में हो गई थी। 17 की उम्र में कवि के बतौर पहचान मिली। वे मार्क्सवाद से प्रभावित हुए। 20 की उम्र में तेलुगू साहित्य की पत्रिका ‘सर्जना’ का संपादन किया। 18 मई 1973 को जब उम्र 33 की होगी, उन्हें मीसा के तहत बंदी बनाया गया। उसके बाद इमरजेंसी के दौरान भी गिरफ्तारी हुई। दो दर्जन मुकदमे कायम किए गए। अनेक बार गिरफ्तारी हुई। सभी आरोप बेबुनियाद साबित

हुए और अदालत द्वारा वरवरा राव बाइज्जत बरी किए गए।

उन्होंने विपुल साहित्य लेखन किया। दर्जन से ऊपर तो उनके कविता संकलन हैं। अनेक भाषाओं में उनकी कविताओं का अनुवाद हुआ। हिंदी में ‘साहस गाथा’ नाम से उनका कविता संग्रह आया। उनकी अनेक आलोचना कृतियां हैं। उन्होंने अनुवाद का काम किया। अखबारों के लिए स्तंभ लेखन किया। वर्तमान में वे आधुनिक तेलुगू साहित्य के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। भारत के प्रगतिशील व जनवादी साहित्य समाज में उनकी प्रतिष्ठा है।

वरवरा राव को अपनी प्रखरता, सत्ता विरोध और जन प्रतिबद्धता की कीमत चुकानी पड़ी है। उन्हें भीमा कोरेगांव-एल्गार परिषद केस में गिरफ्तार किया गया। इनके साथ अनेक मानवाधिकार कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी, लेखक, वकील आदि को बंद किया गया। इन सबके ऊपर यूएपीए के तहत कार्रवाई की गई।

सत्ता के द्वारा ऐसे बुद्धिजीवियों के लिए एक नया पद ईजाद किया गया है—‘अर्बन नक्सल’। आज सत्ता से असहमति व्यक्त करने वाले लेखकों, पत्रकारों, बुद्धिजीवियों, सामाजिक व मानवाधिकार कार्यकर्ताओं आदि के लिए यही पदनाम है। यह दायरा बढ़ता जा रहा है।

सरकार काव्य लेखन, साहित्य सृजन, बौद्धिक व लोकातांत्रिक क्रियाकलाप आदि को अनुकूलित करने में लगी है। उसे असहमति व आलोचना बर्दाश्त नहीं है। जो विरोध में है, उनका दमन-उत्पीड़न सामान्य-सी बात है। आज ऐसे लोगों की लंबी फेहरिस्त बनाई जा सकती है जिन्हें शिकार बनाया गया है या बनाया जा रहा है। बुलडोजर दमन का प्रतीक बन गया है।

यह वर्तमान की सच्चाई है, परंतु इसका दूसरा पहलू भी है। वह है प्रतिरोध का। वरवरा राव की गिरफ्तारी के बाद साहित्य समाज में उसकी प्रतिक्रिया देखने में आई। इसके विरोध में अनेक कवियों ने कविताएं लिखीं, साहित्यकारों ने विरोध दर्ज किया और उनके साथ एकजुटता प्रदर्शित की।

आज वरवरा राव की उम्र 82 की हो चुकी है। लंबे समय तक जेल में बंद होने के बाद मेडिकल आधार पर उन्हें पिछले साल अगस्त में जमानत मिली। जेल में रहते हुए उनके जीवन के लिए गंभीर संकट पैदा हो गया था। यहां उनका जरूरी इलाज हो सके, इसके लिए भी अदालत का दरवाजा खटखटाना पड़ा। जेल में रहते हुए उन्हें भारी यातना से गुजरना पड़ा। जेल में सामान्य रूप से मिलने वाली सुविधाओं से भी वंचित कर दिए गए। आखिरकार सुप्रीम

कोर्ट के हस्तक्षेप के बाद वे जमानत पर रिहा हुए। वे जेल से बाहर तो आ गए परंतु उन पर कोर्ट की तमाम शर्तें लागू हैं।

अदालत के आदेश में कहा गया है कि कवि अपने घर हैदराबाद वापस नहीं जा सकता। उनकी तीन बेटियां हैं—सहजा, अनला और पवना। वे हैदराबाद में रहती हैं। वहां उनका परिवार है। वरवरा राव की उम्र और स्वास्थ्य को देखते हुए उनकी देखभाल के लिए बेटियों का साथ रहना जरूरी है। कोर्ट का आदेश ऐसा है जिसमें वे मुंबई नहीं छोड़ सकते। फलस्वरूप उन्हें मुंबई में ही रहना पड़ रहा है। उनके साथ पत्नी पी. हेमलता हैं जो उनका ख्याल रखती हैं। उन्हें सार्वजनिक कार्यक्रमों में भाग लेने की मनाही है। वे प्रेस, इलेक्ट्रॉनिक व सोशल मीडिया पर बयान नहीं दे सकते हैं।

फिलहाल वरवरा राव मुंबई के गोरेगांव में रह रहे हैं। यहीं पिछले माह उनसे मुलाकात हुई। उन्होंने बढ़ती उम्र, स्वास्थ्य तथा अकेलेपन से निपटने के तरीके के तौर पर अनुवाद के काम में अपने को लगा रखा है। पिछले दिनों बांग्ला के मशहूर कवि काजी नजरूल इस्लाम की कविताओं का तेलुगू में अनुवाद किया। यह किताब के रूप में शीघ्र प्रकाशित होकर आने वाली है। गुलजार उनके प्रिय कवि हैं। उनकी कविताओं का भी अनुवाद किया है।

बातचीत के प्रसंग में देवीप्रसाद मिश्र की कविता 'मुसलमान' पर भी चर्चा हुई। इसका भी तेलुगू में अनुवाद किया है। उन्होंने इसी तरह के सृजनात्मक कामों में अपने को लगा रखा है।

इस मुलाकात में अपनी कृतियों का भी आदान-प्रदान हुआ। उनसे हमें दो किताबें मिलीं। पहली उनकी जेल डायरी तथा जेल से लिखे उनके पत्रों का संग्रह है तो दूसरी किताब एन। वेणुगोपाल की लिखी 'द मेकिंग ऑफ वरवरा राव'। उनके साथ छोटी-सी गोष्ठी भी हो गई। इसमें हमने वरवरा राव की गिरफ्तारी के विरोध में लिखी कविता सुनाई।

'कवि बड़ा खतरनाक है/वह कविता लिखता है/जीवन के गीत गाता है/क्रांति की धुन पर थिरकता है/हां, उनके लिए कवि बड़ा खतरनाक है/और उसके जीवन को खत्म कर देने के/हजार उपक्रम जारी है/पर यह सत्ता है जो काट रही उसी डाल को/जिस पर वह बैठी है'।

बातचीत के क्रम में हमने बताया कि फादर स्टेन स्वामी की न्यायिक हिरासत में हुई मौत पर भी संग्रह में कविता है। उन्होंने सुनने की इच्छा व्यक्त की। कविता कुछ इस प्रकार थी :

'सत्य को झूठ/झूठ को सत्य बनाने के खेल के/वे उस्ताद हैं/हत्या की ऐसी-ऐसी तरकीबें हैं उनके पास/कि हत्या, हत्या नहीं सामान्य मौत लगे/ठंडी मौत मारना एक सिलसिला है/जो चल पड़ा है/उन्होंने मौत पर/जश्न मनाने वालों का कुनबा खड़ा कर लिया है/लोकतांत्रिक मर्यादाएं वस्त्र हो चुकी हैं/फादर ने तो यही पूछा था/क्या है मेरा अपराध?'/जब राजा बहरा और अंधा हो/तो ऐसी आवाज नहीं सुनी जाती/अपना नंगापन भी उसे नहीं दिखता।'

आज के इस फासीवादी दौर में लेखकों व बुद्धिजीवियों की क्या भूमिका हो? हमारे विचार-विमर्श का यह भी विषय था। उन्होंने लंबा समय जेल में गुजारा। अब भी हालत ऐसी है जिसमें वे लोगों से मिल नहीं सकते हैं। गिने-चुने ही मिलने आते हैं। ऐसे में क्या संदेश है?

उनकी ओर से संदेश जैसा कुछ नहीं था पर जोर देकर कहा—एकता, एकता, एकता। मोर्चा, मोर्चा, मोर्चा। कहना था कि जिस तरह पिछली सदी में जब दुनिया में फासीवाद का उभार हुआ था, हमारे यहां के लेखकों ने फासीवाद मोर्चा बनाया था। उसी तरह का मोर्चा बने। उसी दिशा में पहल ली जानी चाहिए। यह भी कहना था कि लेखकों के अनेक संगठन हैं। इनके होते हुए भी मोर्चा बन सकता है।

उनकी राय थी कि वे जो कर रहे हैं, वे करते रहें। उनका अस्तित्व बना रहे। इसके बाद भी उनके बीच फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा बन सकता है और बने। संघर्ष और एकजुटता से ही राह निकलेगी।

उनके साथ की यह हमारी बेहतरीन शाम थी, ऊर्जस्वित कर देने वाली। दिली इच्छा उनसे सुनने की थी। हमारे अनुरोध को वे मुस्कराकर टाल गए। ऐसे में उनकी कविता का पाठ हम ही ने किया। यह बेंजामिन मोलाइस को फांसी दिए जाने के बाद उन्होंने लिखी थी। यह काफी लोकप्रिय भी है :

'कब डरता है दुश्मन कवि से/जब कवि के गीत अस्त्र बन जाते हैं/वह कैद कर लेता है कवि को/फांसी पर चढ़ाता है/फांसी के तख्ते के एक ओर होती है सरकार/दूसरी ओर अमरता/कवि जीता है अपने गीतों में/और गीत जीता है जनता के हृदय में'

कहा जा सकता है कि तमाम विपरीतताओं के बीच वरवरा राव का कवि अपने गीतों में जीता है जहां एक बेहतर दुनिया और जनमुक्ति का स्वप्न है। उसका संघर्ष इसी स्वप्न को सच्चाई में बदल देने के लिए है।

पृष्ठ 3 से पृष्ठ 20 तक के छहों लेख 'द वायर' वेबसाइट से साभार हैं।

गांधी की ज़रूरत

अशोक वाजपेयी

//

गांधी-विचार अब तक, सारे हमलों और लांछनों-अपमानों के बावजूद, मौजूद है, प्रेरक हैं और उसका हमारे समय के लिए पुराविष्कार संभव है। भारत में अपार साधनों से अनेक दुष्प्रवृत्तियां पोसी जा रही हैं, गांधी उनका स्थायी और मजबूत प्रतिरोध हैं।

गांधी को लेकर भारतीय समाज में कम से कम तीन धाराएं आज साफ नज़र आती हैं। पहली जो उनकी दृष्टि और अभिप्रायों आदि को लेकर अपने-अपने स्तर पर शिक्षा-पर्यावरण-सामाजिक सद्भाव और कार्य आदि क्षेत्रों में सक्रिय हैं और जिन्हें उनकी ज़रूरत पर कोई संशय नहीं है। इनमें से बहुत सारी ऐसी संस्थाएं हैं जो अपने को गांधीवादी घोषित नहीं भी करतीं।

दूसरी जो इन दिनों बाढ़ पर है उन लोगों की है जो उन्हें सिरे से खारिज करते, उनके हत्यारे को महिमामंडित करते, उन्हें देश के विभाजन से लेकर कल्पित स्ट्रैणता तक के लिए लांछित करते रहते हैं। कहीं न कहीं गांधी का दैनिक अपमान उनकी भावात्मक और धार्मिक ज़रूरत बन चुका है।

तीसरी धारा उनकी है जो सर्वथा उदासीन अनजान हैं और उन्हें अपने जीवन में भौतिक के अलावा किसी और गहरे आत्मिक परिवर्तन की दरकार नहीं है।

पर शायद यह गिनती पूरी नहीं है। एक ऐसा वर्ग धीरे-धीरे विकसित होता लग रहा है जिसने पहले भी उन्हें गंभीरता से नहीं लिया था पर अब उन्हें लगता है कि गांधी से सीखने को कुछ है। उन्हें लग रहा है कि जिस तरह की सांप्रदायिक हिंसा, धर्माधिकदृष्टता, बाज़ारू मानसिकता, जातिपरक हिंसा और अन्याय, इतिहास और संस्कृति की दुर्व्याख्या, विस्मृति की चपेट में समाज आ रहा है, उससे अलग रास्ता गांधी से ही समझ में आ सकता है। इस वर्ग में बड़ी संख्या युवाओं की है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस समय हर कुछ को आधुनिक बनाने की जो होड़ है, उस आधुनिकता को गांधी ने प्रश्नांकित किया था, सौ से अधिक वर्ष पहले। उस प्रश्नांकन की बहुत कम स्मृति बची है। तेज वाहनों के लिए बढ़िया सड़कें, चमकते-दमकते हवाई अड्डे, ऊंची गर्वीली इमारतें, अधिक दामों पर सही सभी चीजों की उपलब्धता, अपने घरों को चीजों का गोदाम बनाने की हड़बड़ी आदि ने हमें मंत्रमुग्ध कर रखा है।

हमारी सामाजिक, राजनीतिक स्मृति और ध्यान से गरीब, स्त्रियां, अल्पसंख्यक, साधनहीन लोग, आदिवासी, दलित आदि गायब हो चुके हैं। गांधी हमेशा इन्हीं के साथ थे और आज उन्हें याद करने का एक मतलब उनकी निर्धन के साथ सहचारिता को याद करना है। याद करना है अपनी भौतिक ज़रूरतों को सीमित करना, सर्वधर्म समभाव का आचरण करना, राजनीति को नैतिक होने पर विवश करना आदि।

यह कहना कठिन है कि यह वर्ग कितना प्रभावशाली हो पाएगा और वह अपनी मुक्ति से बढ़कर कितनी सामाजिक मुक्ति के लिए कोशिश करेगा। पर वह है तो यह आश्चर्य होती है कि गांधी-विचार अब तक, सारे हमलों और लांछनों-अपमानों के बावजूद, मौजूद है, प्रेरक हैं और उसका हमारे समय के लिए पुराविष्कार संभव है। अनेक दुष्प्रवृत्तियां भारत में अपार साधनों से पोसी जा रही हैं, गांधी उनका स्थायी और मजबूत प्रतिरोध हैं।

जोशीमठ : विकास का विनाश

शेखर पाठक

//

जोशीमठ लगभग उच्च हिमालय का इलाका है जो विष्णुप्रयाग के संगम पर स्थित है। वहां एक तरफ विष्णुगंगा बहते हुए आती है, जिसे अलकनंदा भी कहते हैं। दूसरी तरफ से धौली नदी आती है जिसमें नंदादेवी से आने वाली ऋषिगंगा भी मिल जाती है। पंचप्रयागों में पहला प्रयाग यही है जो जोशीमठ की जड़ पर है। तकनीकी रूप से अलकनंदा की शुरुआत यहीं से होती है। ये दो नदियां दो अलग-अलग घाटियां बनाती हैं। दोनों घाटियां तिब्बत को जाती हैं। एक रास्ता कैलाश मानसरोवर के तीर्थ की ओर जाता है। दूसरा बदरीनाथ की ओर जाता है। इन घाटियों के गांवों में भोटिया समुदाय के लोग रहते हैं जो इन्हीं रास्तों से तिब्बत के साथ व्यापार करते थे।

जोशीमठ के दोनों तरफ दो नेशनल पार्क हैं। इन्हें यूनेस्को ने प्राकृतिक विरासत का दर्जा दिया है। एक नंदादेवी नेशनल पार्क है। दूसरी तरफ फूलों की घाटी है। वहीं हेमकुंड साहब का तीर्थ भी है। पर्वतारोहण और ट्रेकिंग के लिए बदरीनाथ से गंगोत्री के बीच का दुर्गम ट्रांस-हिमालयन रास्ता भी जोशीमठ से ही खुलता है। इस लिहाज से जोशीमठ बहुत केंद्रीय महत्व रखता है। कोई हजार साल या उससे भी पहले आदि शंकराचार्य के समय में कहा जाता है कि चार मठों में एक मठ जोशीमठ में स्थापित हुआ। पहले यह क्षेत्र बौद्ध प्रभाव में रहा होगा पर धीरे-धीरे शंकराचार्य की परंपरा के प्रभाव में आया। चूंकि कैलाश की यात्रा की परंपरा तो शंकराचार्य से पहले जैन धर्म के ऋषभदेव तक जाती है इसलिए कह सकते हैं कि चार धाम के अलावा कैलाश मानसरोवर के कारण भी जोशीमठ का सांस्कृतिक महत्व काफी पुराना है। आधुनिक काल में सिखों का तीर्थ भी हेमकुंड साहिब में स्थापित हुआ।

यहां के लोग खतरा तो पचास के दशक में ही महसूस करने लगे थे, लेकिन साठ में चीन के कब्जे के बाद स्थिति बदलना शुरू हुई। सन बासठ में भारत और चीन के बीच जंग हुई, फिर भारत-तिब्बत व्यापार पूरी तरह ठप हो गया। ऐसे में यहां के समाज के लिए बड़ी दिक्कत आई क्योंकि यह समाज घुमंतू था और पूरी तरह मानवीय व्यापार पर तिब्बत के आसरे था। इनका मौसमी प्रवास बिगड़ गया। ये लोग नवंबर में नीचे आते थे और मई में वापस ऊपर जाते थे। इन्हीं

के साथ हमारे देवता भी नीचे लाए जाते थे। बदरीनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री और केदारनाथ में आज भी नवंबर में देवताओं की डोली नीचे लाकर स्थापित की जाती है। जोशीमठ में बदरीनाथ की डोली लाई जाती थी। छह महीने की बर्फ में भगवान अकेले नहीं रह सकते। जहां मनुष्य रहेगा उसके भगवान भी वहीं रहेंगे। यह हमारे तीर्थ की परंपरा थी। बारहमासी सड़कें बनवाने वाली हमारी कम समझदार सरकारों को यह बात समझ में नहीं आती है।

दूसरी ओर सन् 62 के युद्ध के बाद बड़ा अंतर हिमालय को लेकर भारत सरकार के नजरिये में आया। यहां सेना की तैनाती शुरू हो गई। इसके बाद जोशीमठ को सेना की छावनी बना दिया गया। इसी बीच आइटीबीपी की स्थापना हुई और उसका मुख्यालय भी यहीं बनाया गया। जिन भोटिया लोगों का जीवन युद्ध के बाद व्यापार ठप होने के कारण ठहर चुका था, उन्होंने अपनी संपत्ति और धर्म का इस्तेमाल करते हुए जोशीमठ को ही अपना घर बना लिया। इस तरीके से जोशीमठ एक छोटी सी रिहाइश से अहम प्रवेश द्वार के रूप में तब्दील हो गया। हमारे तीर्थ की परंपरा में पर्यटन की परिकल्पना नहीं है लेकिन इन बदलावों के साथ यहां होटल खुलने लगे। तहसील मुख्यालय यहां खुल गया। सरकारों ने तीर्थ को भ्रष्ट परिसरों में बदलना शुरू कर दिया। फिर स्कीईंग वालों ने कहा कि जोशीमठ के पीछे एक बुग्याल है जहां दो-तीन महीने खूब बर्फ गिरती है, तो यहां विंटर स्पोर्ट्स की कल्पना हुई। उसके ऊपर भारी रोपवे बनाया गया। सड़कें बनाई गईं। फिर डायनामाइट से विस्फोट किए गए। इस तरह से यहां नया सिलसिला शुरू हुआ, हालांकि ये उदार किस्म के आक्रमण थे। असल आक्रमण बाद में शुरू हुए।

घर छोड़ने को मजबूर लोग

बहुत पहले दो विदेशी गुरु-शिष्य यहां स्विट्जरलैंड से आए थे। गुरु का नाम था आर्नोल्ड हाएम् और शिष्य का नाम था ऑगस्टो गैन्सर। दोनों बहुत मशहूर भूगर्भविज्ञानी थे। इन्होंने 1936 में ही हिमालय की यात्रा की और पहली बार उच्च हिमालय के भूगर्भशास्त्र का काफी विस्तार से अध्ययन प्रकाशित किया। उस ग्रंथ का नाम था 'सेंट्रल हिमालयन जियोलॉजी', जो 1939 में छपी। इस अध्ययन में

इन्होंने पहली बार बताया था कि हिमालय में जो मुख्य दरार है वह जोशीमठ के क्षेत्र में है। इन दोनों ने हिमालय का एक बेहतरीन यात्रा वृत्तान्त भी लिखा है, 'द थ्रोन ऑफ द गॉड्स'। जोशीमठ के ताजा संदर्भ में लोगों को यह किताब जरूर पढ़नी चाहिए। इनसे पहले भी अंग्रेजों ने गजेटियर में साफ-साफ लिखा था कि जोशीमठ एक पुराने और बहुत बड़े लैंडस्लाइड वाले इलाके में बसी हुई बसावट है। चूंकि यहां छोटे-छोटे मकान होते थे और एक सड़क थी जो चुपचाप बदरीनाथ तक चली जाती थी, तो इलाके पर बहुत बोझ नहीं था। इसीलिए इन बातों पर पहले किसी ने ध्यान भी नहीं दिया।

जिस तरह से जोशीमठ में सड़कें बनाई गई थीं, उन्हें सबसे पहले 1970 में अलकनंदा में आई बाढ़ ने चुनौती दी। पूरी घाटी को इस बाढ़ ने बहा दिया। गौना झील टूट गई। उससे इतनी गाद आई कि हरिद्वार की अपर गंगा नहर कई किलोमीटर तक मलबे से भर गई। उसे साफ करने पर करोड़ों रुपये खर्च हुए। इस बाढ़ ने हमारे समाज और स्थानीय संस्थाओं को विवश कर दिया कि वे बाढ़ के साथ जंगलों की कटान के रिश्ते को समझें। उस समय चिपको आंदोलन चल रहा था। उसने अध्ययन कर के बताया कि अलकनंदा के कैचमेंट में कितना जंगल कटान आया था और कैसे बाढ़ आई। आगे चिपको आंदोलन के कई परिणाम आए। 1980 में वन संरक्षण कानून आया जिसमें साफ कहा गया कि कोई भी वन भूमि दूसरे काम में इस्तेमाल नहीं की जाएगी। दूसरा नतीजा यह रहा कि एक हजार मीटर से ऊपर के हरे पेड़ नहीं काटे जाएंगे। इसके बाद जब विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार केंद्र में आई तो कंपनियों को कच्चे माल के लिए वनोत्पाद के ठेके रद्द कर दिए गए। इसके बाद पर्यावरणीय कानून आदि बनने शुरू हो गए, जो सामाजिक आंदोलनों आदि का प्रभाव रहा। तब तक सरकार भी संवेदनशील थी। तब तक कोई पनबिजली परियोजना हमारे यहां नहीं हुआ करती थी।

1980 में पहली बार बदरीनाथ से आ रही विष्णुगंगा नदी पर एक पनबिजली परियोजना बनाने की बात सरकार की ओर से आई। इस परियोजना पर चिपको आंदोलन के अगुआ चंडीप्रसाद भट्ट और दो-तीन बड़े वैज्ञानिकों ने काफी अध्ययन किया और यह पता लगाया कि सर्दियों में विष्णुगंगा, उसकी धाराओं और पुष्पावती का डिसचार्ज कितना रहता है। इस आधार पर उन्होंने कई लेख लिखे। चिपको आंदोलन की ओर से जब बाकायदा वैज्ञानिक तरीके से परियोजना को चुनौती दी गई तो तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने बहुत संजीदगी के साथ इसे सुना और विष्णुगंगा परियोजना को रद्द कर दिया। साथ में साइलेंट वैली की एक परियोजना को भी रद्द कर दिया गया। ये सब अस्सी में होने के बाद लंबे समय तक चीजें टली रहीं।

सन नब्बे में पी.वी. नरसिंह राव की सरकार आने के बाद बदलाव शुरू हुए, जब निजीकरण का दौर आया। जो विष्णुगंगा

परियोजना पहले रद्द हो चुकी थी उसे सन नब्बे में जेपी कंपनी को दे दिया गया। यह 400 मेगावाट से ज्यादा की परियोजना थी। इसकी सुरंग 18 किलोमीटर से लंबी थी। अलकनंदा के दाहिने हाथ पर जो पहाड़ी है उसमें यह सुरंग बनाई गई। उस समय भी काफी चुनौती दी गई, लेकिन तब तक ठेकेदारी का दबाव बढ़ चुका था और नेताओं में भी विकास का आकर्षण पैदा हो चुका था क्योंकि वे जियोलाॅजी और टेक्टॉनिक्स के बारे में कुछ नहीं जानते थे। उस समय चाई गांव के लोगों के पक्ष में जब चिपको आंदोलन ने आवाज उठाई तो उसे लोगों ने विकास विरोधी ठहरा दिया। जब सुरंग बननी शुरू हुई तो उसका पहला दुष्परिणाम चाई गांव पर पड़ा। उसके ज्यादातर मकान धंस गए। आज भी वह उजड़ा हुआ गांव जोशीमठ से देखा जा सकता है। बाद में उस गांव के लोगों को बड़ा पछतावा हुआ कि उन्होंने चिपको आंदोलन की चेतावनी को नहीं माना। बाद में न उन्हें कोई विकल्प दिया गया, न कोई हरजाना। जेपी कंपनी का दावा था कि उसके पास ऐसी आधुनिक तकनीक है कि जब मलबा ज्यादा आएगा तो अपने आप बांध के दरवाजे खुल जाएंगे। 2013 में वे देखते रह गए और पूरी परियोजना नेस्तनाबूत हो गई।

अतिक्रमण का खामियाजा

इसके बाद जोशीमठ की दूसरी नदी धौली को उन्होंने गुलाम बनाने की शुरुआत की। तकनीकी रूप से वहां जाना वर्जित था क्योंकि नेशनल पार्क को लेकर पर्यावरण कानून ऐसा कहते हैं, लेकिन ये लोग जबरन गए और वहां परियोजनाओं का सिलसिला शुरू कर दिया। दो प्रोजेक्ट तो बन गए। इनमें एक प्रोजेक्ट जो ऋषिगंगा पर बना था वह टूट गया, फिर दोबारा 2021 में बनकर पूरा हुआ। दूसरा वाला प्रोजेक्ट एनटीपीसी का था जो 500 मेगावाट से ज्यादा का था। पता नहीं एनटीपीसी को हाइडेल परियोजना बनाने की जरूरत क्या थी। यह प्रोजेक्ट रैणी गांव के ठीक नीचे जहां ऋषिगंगा का संगम है धौली के साथ, वहां स्थित तपोवन में सुरंग बनाने से शुरू हुआ। इसका शुरुआती परिणाम तपोवन के मकानों में दरारों के रूप में देखा गया। दरअसल, एक बात इस इलाके में देखने वाली ये है कि यहां जितने भी भूखलन हुए हैं उनमें बड़ा पत्थर कभी नीचे नहीं आया है। केवल बड़े बोल्टर या ढीली मिट्टी आई है। बोल्टर और लूज मास में आप सुरंग नहीं बना सकते। सुरंग हमेशा पत्थरों में बनाई जाती है। इस इलाके में हर जगह मास था, जोशीमठ में यह सबसे बड़ा बोल्टर था। वैसे भी जोशीमठ मोरेन पर है, तो हो सकता है वहां कभी बर्फ रही हो।

ये सब लूटने वाले काम सन 2000 के बाद बिना किसी व्यापक लाभ-लागत विश्लेषण या पर्यावरणीय प्रभाव आकलन के शुरू किए गए। ये लोग क्या करते हैं, कि जैसे आप और हम भाई-भाई हैं, वैसे ही एक ने ठेका ले लिया और दूसरे को पर्यावरणीय

प्रभाव आकलन की रिपोर्ट तैयार करने को दे दिया। बिना हिमालय की ईकोलॉजी, जियोलॉजी, टेक्टॉनिक्स जाने रिपोर्ट आ गई और काम भी शुरू हो गया। तपोवन-विष्णुगढ़ परियोजना में भी यही हुआ। इसका विरोध 2002-03 से ही शुरू हो गया था। उस समय नारायण दत्त तिवारी मुख्यमंत्री थे। वे दो-तीन बार इसका उद्घाटन करने आने वाले थे लेकिन विरोध के कारण नहीं आ सके। फिर देहरादून में ही बैठे-बैठे उन्होंने उद्घाटन कर डाला। डायनामाइट से विस्फोट का विरोध हो रहा था, तो ये लोग विदेश से पहाड़ में सुरंग बनाने वाली एक मशीन लेकर आए जो एक तरफ से घुसती है और सुरंग बनाकर दूसरी तरफ प्रकट हो जाती है। अब पता नहीं किस कारण से यह मशीन पांच-छह किलोमीटर के बाद ही फंस गई और इस पर एक बोल्ट भी गिर गया। इस मशीन को निकालने के लिए दाएं, बाएं, आड़े-तिरछे कई सुरंगें खोदी गईं। तब जाकर एक समांतर सुरंग बनाई गई। हमारे ज्यादातर भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि इसी मल्टी टनलिंग ने अंततः जोशीमठ को पूरा का पूरा हिलाकर रख दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि पानी के अंदरूनी सोते बाहर निकलने लगे। वे बताते हैं कि एक मिनट में सात सौ लीटर तक पानी बाहर निकलता था। इसकी जांच या अध्ययन के लिए कोई कमेटी भी नहीं बिठाई गई। ये जो अपराधी डेवलपर हैं, ये चाहते भी नहीं हैं कि कोई स्वतंत्र कमेटी बैठाई जाए या अच्छे-सच्चे वैज्ञानिकों द्वारा कोई जांच हो। लिहाजा ये सब होता रहा।

जोशीमठ ने चुकाई विकास की कीमत

जोशीमठ की संघर्ष समिति शुरू से ही इसका विरोध कर रही थी। उसने तीन वैज्ञानिकों की अपनी कमेटी बनाई—नवीन जुयाल, एसपी सती और शुभा शर्मा। इन वैज्ञानिकों ने 2010 में ही अपनी रिपोर्ट दे दी थी। उससे पहले यह बताना जरूरी है कि 1970 की बाढ़ के बाद बार-बार यह आशंका जाहिर की जा रही थी कि जोशीमठ धंस जाएगा। इस बारे में 1976 में अनुपम मिश्र ने दिनमान में एक लेख लिखा था। इसी साल चंडीप्रसाद भट्ट का लेख भी जोशीमठ के बारे में छपा था। इन दोनों लेखों से सबक लेते हुए गढ़वाल के तत्कालीन कमिश्नर महेश चंद्र मिश्रा ने एक प्रशासनिक रिपोर्ट दी थी जिसमें निर्माण के नियमन से संबंधित हिदायतें दी गई थीं। अब कहां 1976 और कहां सन 2000 जब उत्तराखंड नया राज्य बन गया, इसके बावजूद इतने साल में न कोई भूगर्भीय सर्वे किया गया न ही लाभ-लागत विश्लेषण या रिमोट सेंसिंग आदि। इसका नतीजा यह हुआ कि 2021 में 7 फरवरी को जब ऋषिगंगा में बनी झील फूटी तो उसने ऋषिगंगा परियोजना को नेस्तनाबूत कर दिया। उधर तपोवन-विष्णुगढ़ परियोजना की सुरंग में काम कर रहे 200 से ज्यादा मजदूर मारे गए। उनकी लाश आज तक वहीं है। आज तक हमारे यहां ऐसा हादसा हुआ ही नहीं था इसलिए राहत और बचाव कार्य वालों के पास लाशें निकालने का कोई प्रशिक्षण ही नहीं था। ये

सभी मारे गए लोग झारखंड, बिहार, नेपाल, पूर्वी यूपी और उत्तराखंड के थे। सब सुरंग के भीतर स्वाहा हो गए।

कहने का अर्थ है कि ऐसे हादसों से भी कोई नहीं चेता। ऊपर से इस तरह की पनबिजली परियोजनाओं ने स्थिति को अंततः और गंभीर कर दिया। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहां पहले से ही एक प्राकृतिक तथ्य मौजूद है कि यह पूरा क्षेत्र भूकंप संवेदी है। सबसे ज्यादा झटके इसी इलाके में आते हैं। एक और तथ्य जिसके बारे में हाएम और गैन्सर ने बताया था और बाद में प्रोफेसर वल्लिया और जुयाल ने भी बताया है कि पश्चिमी नेपाल और हमारा इलाका सीस्मिक गैप में है यानी ऐसा इलाका जहां करीब एक सदी से कोई बड़ा भूकंप नहीं आया है। इसका अर्थ यह हुआ कि यहां ऊर्जा इकट्ठा होती जा रही है, बाहर नहीं निकल रही। इसलिए यहां भूकंप का आना अवश्यंभावी है। जिस समय चार धाम सड़कें बनी थीं उसी समय प्रोफेसर वल्लिया ने कहा था कि इसके दुष्परिणाम जल्दी ही सामने आएंगे क्योंकि जब-जब हमने नदी के प्रवाह क्षेत्र में अतिक्रमण किया है तब-तब नदी ने हमसे बदला लिया है और वे हमारे किए हुए को पूरा बहा के ले गई हैं। 1970, 2013 और 2021 के उदाहरण हमारे सामने हैं।

जोशीमठ के संदर्भ में पनबिजली परियोजनाओं के साथ दूसरा कारण चार धाम सड़कें हैं जिन पर बारह हजार करोड़ रुपये खर्च हुए हैं। सारे पर्यावरण कानूनों को ताक पर रखकर इन सड़कों को बनाया गया है। एक तरफ सरकार ने पर्यावरणीय प्रभाव आकलन की रिपोर्ट से बचने के लिए पचास-पचास किलोमीटर के ठेके दे दिए तो दूसरी ओर सुप्रीम कोर्ट अपनी ही बनाई कमेटी की सिफारिशों को मानने से मुकर गया। यह सरकार तो हिंदू राष्ट्रवादी भी है, लेकिन हिमालय के मामले में इतनी निर्मम तो कोई सरकार नहीं निकली है। जैसा व्यवहार इन्होंने बनारस के मंदिरों के साथ किया है वही ये हिमालय के मंदिरों के साथ भी कर रहे हैं। वरना आठ सौ नौ सौ साल पुराने मंदिर आज तक भयंकर भूकंपों के बावजूद क्यों बचे हुए हैं?

आखिर विज्ञान के आने से पहले भी तो यहां लोग थे? हमारे यहां जो मंदिरों की वास्तुशैली है, तीर्थ हैं, उनके पीछे एक खास किस्म के भूगोल की भूमिका है। उत्तराखंड के लोगों का दुर्भाग्य है कि उन्होंने ईकोलॉजी और हिंदू का मतलब ही नहीं समझा। आप प्रकृति को नष्ट करेंगे तो संस्कृति कहां बच पाएगी। अकेले जोशीमठ ही नहीं, कर्णप्रयाग के मकान भी धंस रहे हैं। आगे इसके बुरे नतीजे और दिखेंगे क्योंकि विकास का भ्रम औसत लोगों को उतना नहीं है जितना ठेकेदारों ने उसका इस्तेमाल किया है। सुप्रीम कोर्ट की गलतियों को भी नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। यह ईकोलॉजी का सवाल है। पूरे उत्तरी भारत को इसके परिणाम भुगतने पड़ेंगे, इसलिए यह अक्षम्य है।

हरिमोहन मिश्र से बातचीत पर आधारित

साभार : आउटलुक हिंदी

संविधान, लोकतांत्रिक मूल्य और हम

संदीप नाईक

//

सामाजिक कार्यकर्ता सचिन जैन की चार किताबें : 'संविधान और हम', 'भारतीय संविधान की विकास गाथा', 'जीवन में संविधान' और 'भारत का संविधान : महत्वपूर्ण तथ्य और तर्क' हाल ही में प्रकाशित होकर आई हैं। संविधान के निर्माण और इसके पीछे के संघर्ष के अलावा ये किताबें आजादी के बाद संवैधानिक मूल्यों की लड़ाई और तिल-तिल कर जी रहे वंचित और दबे हुए लोगों की दास्तान हैं।

26 जनवरी 1950 को जब एक लंबी बहस और मेहनत के बाद संविधान को अपनाया गया तो यह कल्पना की गई थी कि आने वाले वर्षों में भारत के हर नागरिक को संविधान की प्रस्तावना और मूल अधिकारों के साथ एक गरिमामयी जीवन जीने के मौके भी हासिल होंगे और सबको विकास के अवसर भी मिलेंगे।

समय बीतने के साथ-साथ जहां विकास हुआ, वहीं लोगों की मुश्किलें बढ़ी हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। दिक्रत यह है कि आज बमुश्किल देश के एक प्रतिशत लोगों के घर में संविधान की प्रति होगी, जबकि धार्मिक किताबों का भंडार हर घर में होगा। जब संविधान घर में नहीं, किसी ने देखा नहीं तो समझ कैसे विकसित होगी और कैसे हमारा लोकतंत्र बचेगा।

इधर सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने संविधान बचाने की तगड़ी पहल की है, जिसमें विभिन्न प्रकार की संस्थाएं संविधान पर बहुत बारीकी और गहराई से काम कर रही हैं।

इस क्रम में अनेक प्रकार की सामग्री विकसित की जा रही है और दूरदराज के गांवों से लेकर शहरों और विभिन्न प्रकार के सोशल मीडिया पर लोग सक्रिय हैं और समाज के हर वर्ग के साथ संजीदा ढंग से काम हो रहा है।

इस बीच सामाजिक कार्यकर्ता उनकी बारीक अवलोकन क्षमता और लेखनी से उपजी हैं चार किताबें : 'संविधान और हम', 'भारतीय संविधान की विकास गाथा', 'जीवन में

संविधान' और 'भारत का संविधान : महत्वपूर्ण तथ्य और तर्क' हाल ही में प्रकाशित होकर आई हैं।

इन किताबों के जरिये उन्होंने संविधान के बारे में जन जागृति फैलाने का महत्वपूर्ण काम किया है। साथ ही 2023 का अनूठा कैलेंडर विकसित किया है, जिसमें संविधान के बारे में चर्चा की गई है। एक पोस्टर भी संवैधानिक मूल्यों को लेकर बनाया है।

सचिन जैन इस समय 'विकास संवाद' नामक संस्था के साथ मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में रहकर विकास के मुद्दों पर वर्तमान में रणनीतिक संचार पर काम कर रहे हैं।

वे प्रतिष्ठित अशोका फेलोशिप के फेलो भी हैं। उन्होंने 100 के करीब पुस्तकें अलग-अलग मुद्दों पर लिखी है। लगभग 2 दशक से ज्यादा समय से सचिन भोजन का अधिकार, कुपोषण, आजीविका, पंचायती राज, पैरवी, संचार और अन्य सामाजिक मुद्दों पर मध्य प्रदेश और देश के अलग-अलग राज्यों में काम कर रहे हैं। देश और प्रदेश की कई नीतियां बनाने में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

उनकी पहली किताब 'संविधान और हम' को आईटीएम विश्वविद्यालय ग्वालियर ने प्रकाशित किया है। ग्रामीण क्षेत्र में इस किताब कि सहज और सरल भाषा की सराहना हुई। पर अभी बहुत कुछ लिखा जाना बाकी था।

दूसरी किताब 'भारतीय संविधान की विकास गाथा' अघोरा प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। इसमें वो सब बारीक तथ्य और बहस है, जिसमें भारतीय संविधान के बनने की कहानी और संविधान के विकास क्रम का उल्लेख है।

इस पुस्तक में सचिन लोकतंत्र, भारत में लोकतंत्र, उपनिवेशवाद, भारत में नियोजन की व्यवस्था, आधुनिक संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, संविधान और विचारों की विविधता और संविधान सभा की 14 और 15 अगस्त की सभा से लेकर भारत के संविधान और व्यवस्था के बनने में डॉक्टर

आंबेडकर का योगदान, महात्मा गांधी और संविधान, आदिवासी, वैश्विक अशांति, धर्म, गैर बराबरी ऋण की अर्थव्यवस्था और लोगों का एक भीड़ के रूप में तब्दील हो जाने के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं।

‘जीवन में संविधान’ नामक किताब में हमारे जीवन की कहानियां हैं, जहां पर हम प्रतिदिन संवैधानिक मूल्यों का सिर्फ क्षरण मात्र ही नहीं देखते हैं, बल्कि हम यह भी समझने की कोशिश करते हैं कि सत्ता, व्यवस्था और लोकतंत्र के चौथे स्तंभ मीडिया ने किस तरह से आम और खास आदमी को अलग-अलग जगह पर नागरिकों की श्रेणियां बनाकर खड़ा कर दिया है।

75 से अधिक कहानियों का ये संग्रह आजादी के बाद संवैधानिक मूल्यों की लड़ाई, संघर्ष और तिल-तिल कर जी रहे वंचित और दबे हुए लोगों की एक ऐसी दास्तान है, जो एक लंबी सुरंग के मानिंद विकास के रास्ते में से गुजर रही है। इन कहानियों में गरीब, बेबस लोग हैं, जो दलित हैं, स्त्रियां हैं, बूढ़े और लाचार लोग हैं, कुपोषित बच्चे हैं, आजीविका के लिए लड़ते लोग हैं, किशोर हैं युवा हैं। ये सब जो नागरिक होने की पीड़ा भुगत रहे हैं।

अपनी चौथी किताब ‘भारत का संविधान : महत्वपूर्ण तथ्य और तर्क’ में वे 8 अध्यायों के साथ संविधान बनने की कहानी और महत्वपूर्ण तथ्यों का तारीखवार संकलन करके यह बता रहे हैं कि संविधान के बनने में कितने प्रयास किए गए, किस तरह की बहस हुई।

साथ ही कितनी गहराई से तत्कालीन समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को समझ कर आने वाले आजाद हिंदुस्तान की तस्वीर की झलक संविधान में दिखाई देती है और इसके लिए जिस तरह से संविधान सभा के लोगों ने बहस की और निर्णय करके संविधान का मूल पाठ तैयार किया : अकल्पनीय है। इस पुस्तक की प्रस्तावना कानूनविद और अधिवक्ता गौतम भाटिया ने लिखी है।

वे कहते हैं, ‘यह किताब आधुनिक भारत में संविधान निर्माण का विस्तृत और व्यापक इतिहास उपलब्ध कराती है। भारतीय संविधान 1949 में अचानक सामने नहीं आया, बल्कि इसका एक लंबा इतिहास रहा है, जिसका एक सिरा भारत में ब्रिटिशों के शुरुआती अधिपत्य और 1773 के बंगाल रेगुलेशन

से मिलता है। इस रेगुलेशन के जरिये औपनिवेशिक शासकों के लिए शासन का शुरुआती चार्टर तैयार किया गया था।’

वे आगे कहते हैं, ‘19वीं सदी के अंतिम समय में और 1857 के विद्रोह के बाद दशकों से भारतीयों ने विभिन्न तरीकों से भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को चुनौती दी। इनमें से एक तरीका संवैधानिक तरीका भी था। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद उसने जल्दी ही यानी 1895 के आसपास संवैधानिक दस्तावेज तैयार करने का काम शुरू कर दिया था। इनमें मूल अधिकार संबंधी विधेयक भी शामिल था, जिससे स्वतंत्र भारत का खाका बनना था।

इन किताबों के लेखक सचिन जैन कहते हैं, ‘दो दशक तक पत्रकारिता और जमीनी स्तर पर काम करने के बाद यह समझ बनी कि हमें संविधान पर काम करने की ज्यादा जरूरत है, क्योंकि जिस तरह से संवैधानिक मूल्यों का ह्रास हुआ है और संविधान की लगातार उपेक्षा हुई है वह बहुत चिंताजनक है।’

उनके अनुसार, ‘किसी भी देश को चलाने के लिए संविधान का होना अत्यंत आवश्यक है साथ ही लोगों को संविधान की व्यापक और गहरी समझ होना चाहिए। जब तक यह नहीं होगा, लोगों में संवैधानिक मूल्यों का विकास नहीं होगा, उन्हें अपने मूल अधिकार और कर्तव्य से हम वाकिफ नहीं करवाएंगे, तब तक हमारे विकास और सामाजिक परिवर्तन का कोई अर्थ नहीं है।’

बहरहाल ये किताबें सिर्फ अकादमिक जगत के लिए नहीं, बल्कि युवाओं, कानून के विद्यार्थियों, शासन प्रशासन एवं मीडिया से जुड़े लोगों और समुदाय के लोगों के लिए हैं, जिससे संविधान पर एक अच्छी समझ बनाई जा सकती है।

सभी किताबों में बहुत सरल तरीके से हर बात को विस्तार और बारीकी से समझाया गया है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश में जब तक संवैधानिक मूल्यों को आत्मसात कर लोकतंत्र को सही मायनों में हम नहीं सीखेंगे, तब तक हर आदमी में विकास नहीं हो सकता और तब तक हम देश में स्वस्थ लोकतंत्र की परंपरा जमीनी स्तर पर नहीं देख पाएंगे।

(लेखक सामाजिक कार्यकर्ता हैं।)

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए